ĀRYABHAṬĪYAM

WITH

SANSKRIT COMMENTARY AND HINDI VYĀKHYĀ

BY

Pt. Shri Baladeva Mishra, *Jotiṣāchārya*
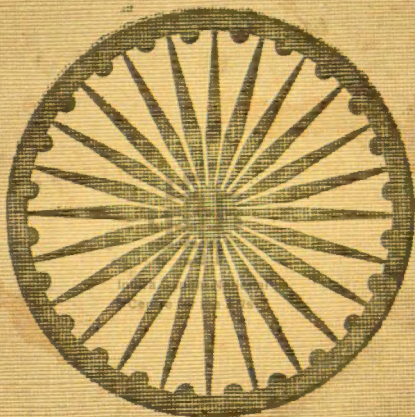
CHIEF EDITOR

Shri S. V. Sohoni, M. A., I. C. S.

PUBLISHED BY

THE BIHAR RESEARCH SOCIETY, PATNA

1296

आर्यभटीयम्

व्याख्योपपत्तिसहितं हिन्दीव्याख्यासंवलितञ्च

व्याख्याकारः

श्रीबलदेवमिश्रो ज्योतिषाचार्यः
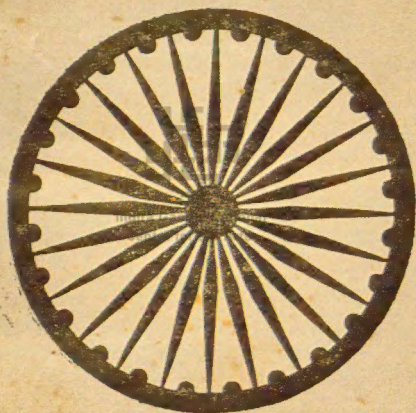
प्रधान संपादकः

श्रीश्रीधरवासुदेव सोहोनी, एम० ए०, आइ० सी० एस०

विहार रिसर्च सोसाइटी, पटना द्वारा प्रकाशितम्

LIST OF OFFICE BEARERS

AND

MEMBERS OF THE COUNCIL

OF THE

Bihar Research Society

for the year 1966-67

Patron :

Shri M. A. S. Ayyangar, Governor of Bihar

Vice-Patron :

Pandit L. K. Jha,
Former Chief Justice of Bihar

President :

Kumar Shri Ganganand Sinha

Centre for the Arts

Vice-Presidents :

Justice Shri S. C. Mishra
Shri S. V. Sohoni
Dr. K. K. Datta

Secretary :

Prof. Aniruddha Jha

Jt. Secretary :

Prof. P. N. Sharma

Treasurer :

Dr. B. Upadhyaya

Librarian :

Dr. Madan Mohan Singh

Chief Editor :

Shri S. V. Sohoni

Editor, Indian Numismatic Chronicle :

Shri S. V. Sohoni

विषय सूची

विषयाः	पृष्ठ

निवेदनम्

आर्यभटीयः आर्यभटकृत ज्योतिषग्रन्थः प्रथम पौरूष ज्योतिषसिद्धान्तग्रन्थः परमेश्वरकृत भटदीपिकाटीकासहितः आदौ डा० कर्णेन प्रकाशितः पश्चात् नीलकण्ठकृतभाष्यसहितः एष एव ग्रन्थः त्रिवेन्द्र नगरे मुद्रितो जातः। टीकाद्वयं प्राचीनव्याख्यारूपं गद्यपद्यमिश्रितम्। इदानीन्तनाः पाठकाः नवीनरीत्या क्षेत्रादिसंवलितां सरलया स्वल्पया भाषया निवद्धां व्याख्यां पठितुमिच्छन्ति। गतवर्षे आर्यभटजयंतीमहोत्सवे विहाररिसर्चसोसाइटी प्रबन्धकारकाणां विशिष्टसभ्यानामनुमत्या विशेषतस्तदुपसभापति श्रीश्रीधर वासुदेवसोहोनी महोदयानामाज्ञया मयापि नवीना सोपपत्तिका टीका हिन्दीव्याख्या संवलिता च लिखिता। अहमल्पमतिः। आर्यभटवाक्यरहस्यं ज्ञातुमक्षमस्तथापि पूर्वकथितटीकाद्वयमवलम्ब्य नवीनाचार्याणां गुरूवर महामहोपाध्याय सुधाकरद्विवेदि महोदारचरितानां भिन्नभिन्न ग्रंथस्थटीकाबलमवलम्ब्य च यथामतीयं टीका विरचिता। विहाररिसर्चसमितेराग्रहं विना एतट्टीकालिखने मम प्रवृत्तिर्नाभविष्यत् यतोहि गुरूवरैर्द्विवेदिभिः गणकतरङ्गिण्यां आर्यभटवर्णने लिखितं "अत्र टीकाकाराणां व्याख्या न विश्वासयोग्या"। आर्यभटीयस्य शुद्धपाण्डुलिपि प्राप्तेरभावात् तैरत्र स्वयं व्याख्या न निर्मिता। मन्येऽनया नवीनव्याख्यया आर्यभट कृतिपिपठिषूणां यत्किञ्चिन्मनोविनोदः स्यात्। तथास्य प्रकाशने मुद्रणस्यासौकर्याद्बहुधा त्रुटिर्जाता। मम दृष्टिदोषात् वुद्धिदोषाच्च बहुत्र त्रुटेः संभावना। सर्वास्ताः संशोध्य बुद्धिमन्तः सज्जनाः गाणितिकाः उत्तमां टीकामत्र विधास्यन्तीत्यभिलषति—

पाटलिपुत्रम्
दिनांक १३-४-१९६६

श्रीबलदेवमिश्रः

संपादकीय

आश्विन या कार्त्तिक में मगध का आकाश ताराग्रह और नक्षत्रों से रात्रि में भरा हुआ देखने को जिन्हें सौभाग्य मिला है उन्हें डेढ़ हजार वर्ष पहले उसी आकाश को देखकर ज्योतिष शास्त्र का गंभीर अध्ययन करके भारतीय विज्ञान के इतिहास में अपना स्थान स्थिर रखने वाले विद्वत्शिरोमणि आर्यभट की जीवनी की कल्पना करना कठिन नहीं होगा।

उस समय पाटलिपुत्र एक महान् साम्राज्य का प्रमुख केन्द्र था। उसके समीपवर्त्ती नालन्दा आदि महाविद्यापीठों में विज्ञान और अन्य शास्त्रों की प्रचुर चर्चा होती थी। बड़ी-बड़ी नदियों पर सात समुद्रों और अठ्ठारह द्वीपों से विस्तृत पैमाने पर व्यापार चलता था; और उत्तरापथ के सार्थवाह बड़ी-बड़ी संख्या में अपना आवागमन करते थे। ऐसी परिस्थिति में विदेश के शास्त्रों का भी परिचय यहाँ के विद्वान रखते थे। गुप्त सम्राटों का राजकीय संबन्ध रोम नगरी से पर्याप्त था। कीदर, शक राजा और अन्य कुषाण तथा पारसिक राजाओं से जो राजनैतिक संबन्ध थे उसी का वह परिणाम था। प्रतिवर्ष अभियान होते थे, सीमावाद उठते थे और संग्रामों में प्राण-हानि होती थी। जिसके कारण, प्रत्येक सम्राट को भिन्न-भिन्न देशों में जो वैज्ञानिक प्रगति होती थी उसका समाचार और जानकारी रखना अनिवार्य सा था।

विशेषत: वैद्यक और ज्योतिष शास्त्रों के सम्बन्ध में भारत में प्राचीन काल से ही बड़ी जिज्ञासा जाग्रत थी। जिस प्रकार भारतीय सिद्धान्तों को विदेशों में संचलन दिया जाता था उसकी प्रतिक्रिया में बाहर के भी सिद्धान्त भारतीय विद्वानों के सामने उपस्थापित होते थे और मान्यता पाते थे।

आर्यभटीय ग्रंथ इसी बात का द्योतक है कि यहाँ के एक अत्यन्त मेधावी गणितज्ञ ने समकालीन सिद्धान्तों का सूक्ष्म अध्ययन किया; और उन्हें आत्मसात् करके अपनी परिभाषा में प्रकट किया।

आर्यभटीय के कर्त्ता ने अपने जीवन की प्राथमिक अवस्था में यह ग्रंथ लिखा। इसका स्वरूप बहुत लघु है। चन्द सिद्धान्तों को सीमित संख्या के श्लोकों में निवद्ध करके आर्यभट ने सदा के लिये इस विषय पर अपना प्रभुत्व अंकित किया है। भारत में अत्यन्त अल्प अवधि में गणित करने की प्रथा बहुत प्राचीन काल से जारी रही है। उस प्रथा के आधार पर ग्रंथ-कर्त्ता ने ज्योतिष शास्त्र के लिये वर्णाक्षर और आंकड़ों का समन्वय करके अपनी स्वतंत्र परिभाषा निर्माण की। छोटे आकार का ग्रंथ लिखना और इस परिभाषा की रचना करना इन दोनों बातों में आर्यभट का उद्देश्य यही रहा होगा कि विद्यार्थियों के लिये पठन-पाठन इसी प्रकार सहज-सुलभ हो जाय। बृहत् संहिताकार लिखते हैं कि बड़े-बड़े ग्रंथ उनके काल के पहले संक्षिप्त किये गये: **"मुनिभिः पारंपर्येन संक्षिप्तीकृतम्"**। बृहत संहिता के विख्यात टीकाकार भट्टोत्पल (शक ८८८) ने पूर्ववर्त्तीय ग्रंथों से प्रचुर मात्रा में उद्धरण दिये हैं। उस स्वर्ण युग में भारत बुद्धिमान देशों में अग्रगण्य था; और विद्वत् सभाओं में धार्मिक तत्त्वों के साथ शास्त्रीय सिद्धान्त और विज्ञान की भी चर्चा हुआ करती थी। भिन्न-भिन्न शास्त्रों

पर उनकी परिणत अवस्था दर्शित करने वाले बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे गये थे। अपनी गुणगंभीर टीका में भट्टोत्पल ने इस उज्ज्वल परिस्थिति के समर्थक शतसः प्रमाण दिये हैं।

इस पार्श्वभूमि में आर्यभटीय ग्रंथ को देखना चाहिये। उसका संक्षिप्त स्वरूप ग्रन्थ-कर्त्ता के द्वारा समकालीन सिद्धान्तों का जो सूक्ष्म अध्ययन हुआ उसका निदर्शक है। ज्योतिष शास्त्र बार-बार प्रचिति देने वाला शास्त्र है—

बहूनि सन्ति शास्त्राणि,
विवादास्तेषु केवलम्।
प्रत्यक्षं ज्योतिषं शास्त्रं,
चन्द्राकौं यत्र साक्षिणौ ॥

जब दृष्टिकोण दृक् प्रत्यय का था तब पाटलिपुत्र के एक विद्वान नागरिक ने केवल शास्त्रीय आधार पर पृथ्वी एक गोल है—

यद्वत् कदंबपुष्पग्रंथिः प्रचितः समन्ततःकुसुमैः।
तद्वद्धि सर्वसत्त्वैर्जलजैः स्थलजैश्च भूगोलः ॥

यह भूगोल का सर्वसम्मत सिद्धान्त अपने संक्षिप्त ग्रंथ में स्थापित किया। यह महान् कौतूहल की बात हो जाती है—

वृत्तभपञ्जरमध्ये कक्ष्या परिवेष्टितः खमध्यगतः।
मृज्जलशिखिवायुमयो भूगोलस्सर्वतो वृत्तः ॥६॥

पृथ्वी न केवल गोल आधार की है उसकी दैनन्दिन गति भी है—

अनुलोमगतिनौंस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत्।
अचलानि भानि तद्वत् समपश्चिमगानि लंकायां ॥ —गोलपाद

यह भी आर्यभट के ग्रंथ में लिखा हुआ है।

यह कहना कठिन है कि पृथ्वी-प्रदक्षिणा सूर्य की चारों ओर होती है यह बात आर्य-भट को मालूम थी या नहीं।

आर्यभटीय बहुत संक्षिप्त ग्रंथ होने पर भी उसमें दुर्बोधता नहीं आई है। सिद्धान्तभूत महत्त्व के विषयों का प्रतिपादन करने के हेतु से उसकी इस प्रकार रचना की गई। व्यवहार में काम लाने के लिये वह ग्रंथ नहीं लिखा गया था। उन्होंने जो सीमित श्लोक रचना की—आर्यभटीय में दशगीतिका भाग के दश श्लोक और आर्याष्टशत भाग के १०८ श्लोक—उनकी संख्या बहुत कम होने के कारण जैसे थे वैसे ही रह गये; और उनमें प्रक्षिप्त ऐसा एक भी श्लोक नहीं मिलता है। इन दोनों भागों के नाम का उल्लेख ब्रह्मगुप्त (शक ५२०) ने स्पष्ट रूपेण किया है।

ब्रह्मगुप्त के खण्डखाद्य ग्रन्थ से, खासकर उसपर वरुण (लगभग शक ९६२) की टीका से अनुमान किया जा सकता है कि आर्यभट ने कुछ विस्तृत करणग्रंथ अवश्य लिखा होगा। वह अभी उपलब्ध नहीं है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि आर्यभट के पश्चात् ज्योतिष शास्त्र पर लिखने वाले जो पंडित हुए उनको आर्यभट का आर्यभटीय ग्रंथ ही न केवल अध्ययन के लिये मिलता था, आर्यभट के दूसरे ग्रंथ जो वर्त्तमान काल में लुप्त है, उन्हें अवश्य उपलब्ध थे।

अधिकांश अनुवर्त्ती ग्रंथकारों ने आर्यभट को दोष ही दिया है। हो सकता है कि इस संक्षिप्त ग्रंथ को छोड़ आर्यभट के अन्य ग्रंथों को देखकर ही छिद्रान्वेषण की यह प्रवृत्ति इन ग्रंथकारों में हुई होगी। ब्रह्मगुप्त कहते हैं—

> स्वयमेव नाम यत्कृतमार्यभटेन स्फुटं स्वगणितस्य ॥
> सिद्धं तदस्फुटत्वं ग्रहाणादीनां विसंवादात् ॥४२॥
> जानात्येकमपि यतो नार्यभटो गणितकालगोलानां ॥
> न मया प्रोक्तानि ततः पृथक् पृथक् दूषणान्येषां ॥४३॥
> आर्यभटदूषणानां संख्या वक्तुं न शक्यते ... ॥
>
> ब्र० गु० सि० अ० ११

ब्रह्मगुप्त यह भी लिखते हैं कि, "**कालान्तरेण दोष ये अन्यैर्हि प्रोक्ता न ते मया अभिहिताः**"—"जो दूसरों ने दूषण दिया है उसे मैंने नहीं दुहराया है"। परन्तु ब्रह्मगुप्त के पहले और आर्यभट के पश्चात् जो ज्योतिष ग्रंथ हुए उनमें केवल पंच-सिद्धान्तिका में आर्यभट का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि जहाँ आर्यभट के विचारों की चर्चा ब्रह्मगुप्त के पहले हुई थी, ऐसे अनेक ग्रंथ वर्त्तमान काल में उपलब्ध नहीं हुए हैं। इस प्रकार भारतीय ज्योतिष शास्त्र की बड़ी हानि हुई है।

ब्रह्मगुप्त के अनुसार आर्यभटीय सिद्धान्तों से ग्रहणादिकों का विसंवाद देखने में आता था—दृक्प्रत्यय सही नहीं था। परन्तु यह दृष्टिकोण ठीक नहीं है। विचार करने पर यह स्पष्ट है कि आर्यभट बहुत महान् ज्योतिर्विद् थे। गुरू तथा बुध इन दो ग्रहों का भगणमान उन्होंने स्वयं निकाला; और पूर्ववर्त्ती ग्रंथों के ग्रह-स्पष्टीकरण में सुधार किया। ब्रह्मगुप्त कहते हैं कि श्रीषेण (शक ४५०) और विष्णुचन्द्र (शक ४५०) इन दो ग्रंथकारों ने आर्यभट के ग्रंथों से स्पष्टीकरण में मन्दोच्च, पात और परिधि की जानकारी ली। ब्रह्मगुप्त छिद्रान्वेषणपटु थे तथापि उन्हें लिखना पड़ा कि, "**वक्ष्यामि खण्डखाद्यकं आचार्यार्यभट तुल्यफलं**"। इतना तो स्पष्ट है कि मूलसूर्यसिद्धांत इत्यादि ग्रंथ होने पर भी आर्यभट के ग्रंथ को ब्रह्मगुप्त के समय प्रधानता मिली। ब्रह्मगुप्त के ग्रंथ आर्यभट के विचारों से कितने तुल्य हैं उसका विचार भूमिका पृ० २२ पर देखा जाय।

प्राचीन पद्धति के प्रचलित ज्योतिष ग्रंथों पर आर्यभट के विचारों का प्रचुर प्रमाण में संस्कार हुआ। आर्यभटोक्त ग्रहगति को लल्ल (लगभग ५६० शक) ने बीजसंस्कार दिया। करणप्रकाश जो शक १०१४ में आर्यपक्ष का करणग्रंथ लिखा गया वह आर्यभटोक्त भगणों पर आधारित ग्रहगति स्थिति को लल्लोक्त बीजसंस्कार दे करके लिखा गया है। इसी प्रकार का दामोदर का करण ग्रंथ शक १३३९ में लिखा गया। ग्रहलाघव में गुरु, मंगल और राहु ये ग्रह करणप्रकाश से लिये गये हैं; और भारत में ग्रहलाघव की मान्यता बहुत प्रदेशों में देखी जाती है।

आर्यभटीय ग्रंथ पाटलिपुत्र में शक ४२१ में आर्यभट ने लिखा। डा० केर्ण को दक्षिण भारत में आर्यभटीय की तीन हस्तलिखित प्रतियाँ मिली थीं जो मलयालम लिपिबद्ध थीं।

सौरमान पंचाग का प्रयोग तामिलनाड और केरल प्रदेशों में होता है जो आर्यपक्ष से सहमत है। बंगाल में आर्य सिद्धान्त बिल्कुल प्रचलित नहीं है। इस परिस्थिति से प्रभावित होकर श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने तर्क किया था कि जिस कुसुमपुर के आर्यभट निवासी थे वह कुसुमपुर पाटलिपुत्र नहीं होगा, किन्तु किसी दक्षिण के प्रान्त का कुसुमपुर होगा। इस सम्बन्ध में टीकाकार की चर्चा भूमिका पृ० २ पर देखी जाय।

II

डा० केर्ण का संस्करण दुर्मिल है; और आर्यभटीय के सम्बन्ध में बालबोध तरीके से जानकारी देनेवाला ग्रंथ राष्ट्रभाषा में तो था ही नहीं परन्तु संस्कृत में भी ऐसी कोई रचना सुलभ नहीं थी। कुसुमपुर या पाटलिपुत्र निवासी आर्यभट ऐसे महान वैज्ञानिक के प्रति बिहार रिसर्च सोसाइटी ने अपना उत्तरदायित्व समझकर उनके एकमेव उपलब्ध ग्रंथ का नया संस्करण करने का और प्रतिवर्ष उनकी जयन्ती का उत्सव १३ अप्रील को मनाने का निश्चय किया। इस नव संस्करण का भार पं० श्री बलदेव मिश्र को सौंपा गया।

III

पं० श्री बलदेव मिश्र का जन्म १ नवम्बर १८९६ ई० में सहरसा जिला के सुप्रसिद्ध बनगाँव ग्राम में हुआ। आपकी प्रारंभिक शिक्षा वहीं मातृकुल में हुई। दिनाजपुर जिला की मालदोआर रियासत के राजा श्री टंकनाथ चौधरी से आपको पर्याप्त सहायता मिली; और फलस्वरूप आपकी शिक्षा मिथिला तथा काशी में हुई। आपने ज्योतिष के एक बड़े पंडित श्री गेनालाल चौधरी से भी मिथिला में विद्या प्राप्त की। १९१० ई० में आप वाराणसी के प्रथितयश महमहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी के शिष्य हुए। अनेक परीक्षाओं में आपने सुचारुरूप से यश पाया, वाराणसी में सम्पूर्ण मध्यमा परीक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त किया और १९११ ई० में कलकत्ता के ज्योतिषतीर्थ परीक्षा में भी आप प्रथम हुए। १९२० ई० में वाराणसी में आपने ज्योतिषाचार्य की उपाधि पाई।

आप १९२२ ई० से १९३० ई० तक काशी विद्यापीठ में गणित के अध्यापक रहे। १९३६ ई० से १९३९ ई० तक संस्कृत महाविद्यालय, खरखुरा (गया जिला) में आपने अधीक्षक का काम किया। १९४० ई० से १९५१ ई० तक सरस्वती भवन पुस्तकालय, वाराणसी में हस्तलिखितग्रन्थों के सूची निर्माण (केटेलोगर) का काम किया। १९५२ ई० से अभी तक काशी प्रसाद जयसवाल शोध संस्थान में दुर्वोध हस्तलिखितग्रन्थों के वाचन का काम करते आ रहे हैं।

आपकी ग्रंथ-निर्मिति विपुल है। आपने संस्कृत में त्रिकोणमिति लिखी और भास्करीय बीजगणित पर टिप्पणी की है। अपने प्रात: स्मरणीय पूज्यगुरुवर महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी जी के अनेक ग्रंथों का आपने संपादन किया है, उदाहरणार्थ—दीर्घवृत्त, चलन-कलन, चलन-राशि-कलन इत्यादि। आपकी लिखी हुई छै पुस्तकें मैथिली में प्रकाशित हुई हैं। हिन्दी भाषा में आपने छात्र-जीवन नामक ग्रंथ प्रकाशित किया है। आपके अनेक ग्रंथ अभीतक हस्तलिखित रूप में अप्रकाशित हैं जैसे कि भारतीय संस्कृति, वनगाँव का इतिहास, विष्णु-पुराण पर विचार, ज्योतिष के नवरत्न इत्यादि। आपके अनेक लेख संस्कृत, मैथिली, हिन्दी और अँग्रेजी पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं।

१९३३ में ज्योतिष सम्मेलन में सिद्धान्तपक्ष का प्रतिनिधित्व करने के लिये आप इन्दौर गये थे। १९४८ ई० में विजयवाड़ा (मद्रास) ज्योतिष पञ्चाङ्ग सम्मेलन में भाग लिया था। १९५० ई० में दरभंगा नगर में हुई अखिल भारतीय ओरियन्टल कांफ्रेन्स के ज्योतिष विभाग के आप अध्यक्ष रहे थे। पुनः १९५१ ई० में जगन्नाथपुरी में आपने ज्योतिष पञ्चाङ्ग सम्मेलन में अपना पक्ष सम्पन्न किया। १९६० ई० में उज्जयिनी में कालिदास विषयक विद्वात्ता पूर्ण निबन्ध पढ़ा और एक दिन सभापतित्व भी किया।

मनु का निम्नलिखित श्लोक ही आपके जीवन का लक्ष्य है :—

सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः।
यथा तथाऽध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥

पंडित जी की बुद्धि मूलगामी है। आपका आचरण अत्यन्त शुद्ध तथा स्वभाव सरल-तम है। आपके संभाषण में संस्कृत श्लोकों का आह्वान होता है और आपके संस्कृत साहित्य के अध्ययन का सुन्दर परिचय देता है। संस्कृत एवं गणित आपके अत्यन्त प्रिय विषय हैं। आपमें पौर्वात्य एवं पाश्चिमात्य शिक्षा पद्धतियों का अपूर्व संगम देखने में आता है जिससे आपका विश्लेषण और अभिप्राय सदा ही हृष्ट-पुष्ट पाया जाता है।

पंडित श्री बलदेव मिश्र की भूमिका में निम्नलिखित विषय आये हैं :—

बिहार रिसर्च सोसाइटी की कार्यकारिणी परिषद और व्यक्तिगत रूप से मैं भी पं० श्री बलदेव मिश्र का बहुत आभारी हूँ कि उन्होंने निष्ठापूर्वक इस अनुपम ग्रंथ पर इतनी विद्वत्तापूर्ण टीका संस्कृत और हिन्दी में लिखी; और अनेक पहलुओं पर प्रकाश डाला। जो एक मुनि ने शास्त्र को संक्षिप्त करके वामन रूपी ग्रंथ लिखा उस ग्रंथ पर दूसरे पंडितवर्ग ने बृहद् टीका लिखकर उसका विराट स्वरूप संशोधकों के लिये दिखलाया। इसलिये भारतीय ज्योतिष के इतिहास के सभी जिज्ञासु पं० श्री बलदेव मिश्र के ऋणी रहेंगे। पंडित महोदय द्वारा ज्योतिष विषयक अन्य ग्रंथों का निर्माण होने वाला है। इस ज्ञान संपादन और संवर्धन के लिये वांछित साधन और सहायता मिले और उन्हें दीर्घायु का लाभ हो, यही मेरी प्रार्थना जगन्नियन्ता प्रभु से है।

बिहार रिसर्च सोसाइटी
पटना, १३-४-१९६६

श्रीधर वासुदेव सोहोनी
उपाध्यक्ष तथा मुख्य संपादक

श्रीबलदेवमिश्र ज्योतिषाचार्य

भूमिका

आर्यभट सर्वप्रथम वैज्ञानिक हुए हैं जिन्होंने पृथ्वीचलन को कहा तथा तेइस वर्ष की आयु में आर्यभटीय नामक ज्योतिष का एक ग्रन्थ ५०० ई० में लिखा। वे इसी कुसुमपुर (पुष्पपुर या पाटलिपुत्र या पटना) के निवासी थे। यह सोसाइटी (बिहार रिसर्च सोसाइटी) इसलिये धन्यवादार्ह है कि इसी ने सर्वप्रथम इस नगर के प्रख्यात विद्वान के गौरव का अनुभव कर गत वर्ष से मेष संक्रान्ति, वर्षारम्भ के दिन १३ अप्रील को उनकी जयन्ती मना रही है। इस वर्ष १९६५ में सोसाइटी की ओर से इसकी स्वर्णजयंती के अवसर पर आर्यभट के ग्रन्थ आर्यभटीय को सुन्दर एवं सरल रूप से नवीन संस्कृत तथा हिन्दी टीका के साथ प्रकाशित किया गया है।

आर्यभट को लोग आर्यभट्ट भी कहते हैं। चूँकि अपने ग्रन्थ में उन्होंने अपने को 'आर्यभटः' ही कहा है इसलिये उन्हें आर्यभट के नाम से संबोधित करना ही उचित है। एक खास विशेषता आर्यभट में यह देखी जाती है कि आज से करीब पन्द्रह सौ वर्ष पहले उन्होंने अपना स्थान, अपना जन्मकाल एवं ग्रन्थ लिखने का समय कलियुग के प्रारंभ से दिया।

आर्यभट का स्थान

आर्यभट पटना के थे। उन्होंने पटना का नाम कुसुमपुर लिखा है। उन्होंने लिखा है, "इस कुसुमपुर में अभ्यर्चित (विशेष रूप से पूजित) ज्ञान को आर्यभट कहते है"।[1] पटना का पुराना नाम पुष्पपुर था। कालिदास ने रघुवंश में इस नगर को पुष्पपुर कहा है।[2] रघुवंश के टीकाकार मल्लिनाथ ने इस नगर को अपने समय में पाटलिपुर कहा है। दशकुमारचरित के लेखक दण्डी ने इस नगरी को पुष्पपुरी कहा है। पुष्पपुर का ही दूसरा नाम कुसुमपुर है। क्योंकि पुष्प का पर्याय कुसुम है। पटना का नाम पाटलिपुत्र भी था। जिसके संवन्ध में बहुत सी बातें कही जाती हैं। षट्दर्शन टीकाकार वाचस्पतिमिश्र ने इस नगर को पाटलिपुत्र कहा है।[4] महाभाष्य में 'अनुशोणं पाटलिपुत्रम्' कहा गया है। म० म० पं सुधाकार द्विवेदी गुरूवर ने अपनी लल्लसिद्धांत की भूमिका में कहा है कि

[1] आर्यभटस्त्विह निगदति कुसुमपुरेऽभ्यर्चितं ज्ञानम् ।—आर्यभटीय, गणित पाद। १२

[2] अनेन चेदिच्छसि गृह्यमाणं पाणिं वरेण्येन कुरू प्रवेशे।
प्रासादवातायनसंस्थितानां नेत्रोत्सवं पुष्पपुराङ्गनानाम् ॥

—रघु० स० ६, श्लोक २४

पुष्पपुराङ्गनानां पाटलिपुराङ्गनानाम् (मल्लिनाथः)

[3] अस्ति समस्तनगरीनिकषायमाणा शश्वदगव्यपण्यविस्तारितमाणिगणादिवस्तुजात व्याख्यातरत्नाकरमाहात्म्या मगधदेशशेखरीभूता पुष्पपुरी नाम नगरी।

—दशकुमार चरित, ग्रन्थारंभ

[4] पाटलिपुत्रे पूर्वदृष्टस्य प्रासादस्य माहिष्मत्यामवभासः।
वाचस्पति मिश्र, भामती टोका, ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य।

प्राचीन काल में चीन देश के चरों से चर्चित पुष्पपुरी नगरी में आर्यभट ने वेध करके जिन भगणों को लिखा उसी को लल्ल ने भी अपने ग्रंथ में पठित किया।[१]

उन्होंने अपनी गणकतरङ्गिणी में लिखा है[२] कि आर्यभट ने कुसुमपुर संप्रति पटना नाम से प्रसिद्ध नगर में आर्यभटीय को लिखा। यह उनके मंगल श्लोक से ही ज्ञात होता है। एक और उद्भट[३] श्लोक से यह विदित होता है कि आर्यभट कुसुमपुर में हुए थे।

वायु पुराण में लिखा है कि गङ्गा के दक्षिण तट पर बड़ा नगर कुसुमपुर था।[४] वह पटना ही है।

केवल शङ्करबालकृष्णदीक्षित अपने 'भारतीय ज्योतिष शास्त्र' में लिखते हैं कि कुसुमपुर नामक नगर कोई दक्षिण देश में रहा होगा, क्योंकि आर्यभटीय पुस्तक की पाण्डु-लिपि मालावार प्रान्त में मिली। किसी की पुस्तक किसी प्रदेश में मिलने से वह तद्देशीय नहीं हो सकता। पटना पुष्पपुर कहकर प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध है। यहाँ बड़े-बड़े बिद्वान हो गये हैं। बिहार क्या समस्त भारत की राजधानी यह नगर बहुत दिनों तक था। शंकरबालकृष्णदीक्षित ने दूसरे स्थान में लिखा है कि लोग इस कुसुमपुर को वर्तमान पटना कहते हैं। जब वायु पुराण का स्वष्ट वचन है कि गङ्गा के दक्षिण तटपर बड़ा नगर कुसुम संज्ञक कुसुमपुर था तो यह नगर वर्त्तमान पटना ही है। उसी वायुपुराण में राजाओं के वर्णन करते-करते चन्द्रगुप्त का भी नाम आया है जिनके मंत्री चाणक्य थे इससे भी स्पष्ट है कि वह कुसुमपुर पटना ही है।

आर्यभट का माहात्म्य

अपने समय से ही आर्यभट विख्यात होगये हैं। क्योंकि पटने में अपने ज्ञान को उन्होंने अतिपूजित कहा है। पूर्व कथित उद्भट श्लोक में यह कहा गया है कि आर्यभट कलियुग के साक्षात् सूर्यावतार थे। भूगोल के वेत्ता तथा कुलपति थे।

आर्यभट का ही शिष्य प्रथम भास्कर ने एक लघुभास्करीय नामक पुस्तक लिखी है। उसमें लिखा है कि बड़े काल में या बड़े देश में स्पष्टता के लिये जिनका दर्शन होता है अर्थात् जो ज्यौतिषज्ञान को स्पष्ट करने वाले हैं ऐसे आर्यभट सर्वोत्कर्ष से वर्त्तमान है। जिनका यश समुद्र के किनारे को उलङ्घन कर बाहर चला गया है।[५] अर्थात् जिनका यश समुद्रपार

---

[१] प्राचीनचीनचरचर्चितपुष्पपुर्यामापूर्य पर्ययजमार्यभटेन वेधम्।
वद्धं तदेव वरलल्लसुधीसुधौघधाराप्रवाहनिकरेण महत्त्वमाप॥
—सुधाकर द्विवेदी, लल्लसिद्धांत। भूमिका

[२] आर्यभटेन कुसुमपुरे संप्रति पटनानामतः प्रसिद्धे नगरे स्वतन्त्रग्रन्थं व्यरचीति तत्कृतपङ्गलेन गणितपादारंभकेण ज्ञायते। गणकतरङ्गिणी पृ० ५, पंक्ति-८

[३] सिद्धान्तपञ्चकविधावपि दृग्विरुद्धमौढ्योपरागमुखखेचरचारक्लृप्तौ।
सूर्यः स्वयं कुसुमपुर्यभवत् कलौ तु भूगोलवित् कुलप आर्यभटाभिधानः॥

[४] उदायी भविता यस्यास्त्रयस्त्रिंशत्समा नृपः।
स वै पुरवरं राजा पृथिव्यां कुसुमाह्वयम्।
गङ्गाया दक्षिणे कूले चतुर्थेऽब्दे करिष्यति। वायुपुराण ३८८, २८ में ३१८

[५] काले महति देशे वा स्फुटार्थं यस्य दर्शनम्।
जयत्यार्यभटः सोऽब्धिप्रान्तप्रोल्लङ्घि सद्यशः।

देशान्तर में भी फैल गया है। ज्योतिष की गति को जानने में आर्यभट के भिन्न कोई समर्थ नहीं है। अन्य लोग अज्ञान की अधिकता रूप जो अन्धकार है, उस अन्धकार के समुद्र में पड़े हुए हैं। भास्कर प्रथम का समय शक ४३४ है। उनके समय में आर्यभट का यश पराकाष्ठा पर था।

यह एक प्रसन्नता का विषय है कि हमलोग देखते हैं कि आर्यभट के समय में इस देश में विज्ञान का आदर था। ज्योतिष विज्ञान है तथा गणित इसका विषय है।

टीकाकार की कल्पना है कि भारत में दर्शनशास्त्र तथा अन्य शास्त्रान्तर का विशेष आदर ज्योतिष विज्ञान के ह्रास में कारण हुआ है। वर्त्तमान समय में भी भारतवर्ष में अन्य शास्त्र की अपेक्षा ज्योतिष शास्त्र को लोग हेय दृष्टि से देखते हैं। ऐसी स्थिति में यह विज्ञानशास्त्र कैसे बढ़े। मिथिला में सबसे बढ़कर आदर न्यायशास्त्र का रहा है। दरभंगा के महाराजा के यहाँ पण्डितों के सत्कार में सर्वप्रथम सत्कार न्यायशास्त्रवित् का ही होता था।

भारत में ईश्वर दर्शन के अतिरिक्त एक और बड़ा ध्येय दर्शन शास्त्र का देखा जाता है। वह है 'परमत निरास', विरूद्ध विचार का खण्डन। चार्वाक, बौद्ध, आदि मतों के द्वारा दिए हुए विरुद्ध मत का खण्डन करना।

न्यायसूत्र गौतम मुनि का है, उस पर वात्स्यायन का भाष्य है। उस भाष्य का जहाँ तहाँ खण्डन दिङ्नाग ने अपने ग्रंथ (प्रमाणवाद) में किया है जिसका उत्तर उद्योतकर नामक आचार्य ने वार्त्तिक में दिया है। फिर उसका खण्डन धर्मकीर्त्ति आदि विद्वानों ने किया है और उसका उत्तर वाचस्पति मिश्र आदि दिये हैं। भट्ट कुमारिल ने तन्त्रवार्त्तिक पुस्तक के द्वारा परमत का खण्डन कर वैदिक विचार का स्थापन किया है। इस प्रकार न्यायशास्त्र एवं मीमांसाशास्त्र का यह भी मुख्य उद्देश्य प्राचीनकाल में रहा है कि परमत खण्डन कर वैदिक मत का स्थापन किया जाय। चूंकि वेदशास्त्र ही भारतीयों का धर्मप्राण है इसलिये धर्मरक्षक इन शास्त्रज्ञों के प्रति कृतज्ञता का भाव भारतीयों का स्वाभाशिक है। इसलिये दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र, आदि का आदर भारत में विशेष रूप से है। ऐसी स्थिति में प्राचीन काल में ज्योतिष शास्त्र भी परममान्य शास्त्र इस देश में था। सर्वप्रथम हमलोग ज्योतिष वेदाङ्ग में लगध मुनि की यह उक्ति पाते हैं कि जैसे मयूर के मस्तक पर शिखा शोभती है और नागों के मस्तक पर मणियाँ शोभती हैं उसी प्रकार वेदाङ्ग शास्त्रों में ज्योतिष सभी शास्त्रों के माथे पर शोभा देती है।[1]

तदनन्तर स्वयं आर्यभट अपनी आर्यभटीय में कहते हैं कि इस कुसुमपुर में मैं अभ्यर्चित ज्ञान को कहता हूँ[2]। इसलिये यह ज्योतिष विज्ञान प्राचीनकाल में अपने समुचित आदर को प्राप्त किया था, ऐसा आभास मिलता है।

नालमार्यभटादन्ये ज्योतिषां गतिवित्तये।
तत्र भ्रमन्ति तेऽज्ञानबहुलध्वान्त-सागरम् ॥

—लघुभास्करीयम् पृ० १७, श्मोक—२-३.
By Bharkara I. ५वीं शताब्दी

[1] यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्ध्नि संस्थितं ॥
—ज्योतिष वेदाङ्ग, प्रारम्भ।

[2] आयभटस्त्विह निगदति कुसुमपुरेऽभ्यर्चितं ज्ञानम्।

आर्यभट का समय

तीन युगपाद सत्ययुग, त्रेता और द्वापर के बीत जाने पर अर्थात् कलियुग के आरम्भ से[1] साठवर्ष वाले गुरुवर्ष साठ बार बीत चुका था अर्थात् ३६०० वर्ष बीत चुके थे तब इस ग्रंथ के लिखने के समय में मेरे (आर्यभट के) जन्म से २३ वर्ष बीत चुके थे। अर्थात् ३६००—२३=३५७७ वर्ष कलियुग के बीतने पर उनका जन्म हुआ था। ३१७९ वर्ष कलियुग के बीतने पर शक का आरम्भ हुआ था।[2] इसलिये ३५७७—३१७९=३९८ शक में आर्यभट का जन्म हुआ था। और ४२१ शक में उन्होंने इस आर्यभटीय को लिखा। सम्भवत: उनके समय में शक संबत् का प्रचार नहीं हुआ होगा। इसलिये उन्होंने कलियुग के प्रारम्भ से गणना कर अपने समय को कहा है।

वराहमिहिर ने ४२७ शक में पञ्चसिद्धान्तिका पुस्तक लिखी जिसमें आर्यभट की चर्चा है, तथा ५५० शक में ब्रह्मगुप्त ने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त नामक पुस्तक लिखी जिसमें अनेक बार आर्यभट की चर्चा है। इसलिये आर्यभट का लिखा हुआ समय विलकुल ठीक है।

आर्यभट के ग्रंथ में अयनांश की चर्चा नहीं है, इसलिये उनके समय में अयनांशाभाव था। रघुवंश के एक श्लोक[3] के वर्णन से टीकाकार समझता है कि कवि कालिदास के समय में भी अयनांश नहीं था। इसलिये आर्यभट और कवि कालिदास लगभग एक ही समय के जान पड़ते हैं। उस श्लोक का अभिप्राय यह है—अगस्त्य-चिह्न अर्थात् मिथुनान्त विन्दु (आशीतिभागैर्याम्यायामगस्त्यो मिथुनान्तग:) के समीप उत्तर अयन से जब सूर्य निवृत्त होते हैं अर्थात् याम्य अयन का प्रारम्भ होता है या उत्तर काष्टा पर जब सूर्य पहुँच जाता है तब उत्तर दिशा आनन्द का उछ्वास लेती है। उस समय में दिन बहुत बड़ा होता है अतएव ताप बहुत बढ़ जाता है। रात क्षीण हो जाती है। उस समय रात-दिन की तरह स्त्री और उसके स्वामी दोनों विरोध क्रिया का अनुभव करते हैं। यहाँ इस शृङ्गारिक श्लेष में ग्रहणीय मुख्य बात तीन हैं; (१) सूर्य मिथुनान्त विन्दु के पास है, (२) उत्तरायण का अंत हो गया है तथा दक्षिणायन प्रवृत्त होने जा रहा है, और (३) दिन सबसे बड़ा और रात सबसे छोटी होती है। ये तीनों बातें यह सिद्ध करती हैं कि उस समय में विषुवद्वृत्त क्रान्तिवृत्त का योग मेषादि में था। उसी स्थिति में मिथुनान्त बिन्दु में सौम्यायन का अन्त होगा और तभी सबसे बड़ा दिन और सबसे छोटी रात होगी। विषुवद्वृत्त क्रान्तिवृत्त का योग मेषादि विन्दु में होने का अर्थ ही अयनांशाभाव है। यह योग विन्दु मेषादि से जितना हटा हुआ रहता है वही अयनांश है। अत: कवि कालिदास के समय में अयनांशाभाव था यह इस वर्णन से विदित होता है।

---

१ षष्ट्यब्दानां यष्टिर्यदा व्यतीतास्त्रयश्च युगपादा:।
त्र्यधिका विंशतिरब्दास्तदेह मम जन्मनोऽतीता:॥ —आर्यभटीय श्लो०

२ शाको नवाद्रीन्दुकृशानु ३१७९ युक्त: कलेर्भवेदब्दगणो व्यतीत:।
—मकरन्द सारणी

३ अगस्त्यचिन्हादयनात्समीपं दिगुत्तरा भास्वति संनिवृत्ते।
आनन्दशीतामिव वाष्पवृष्टिं हिमस्रुतिं हैमवतीं ससर्ज॥
प्रवृद्धतापो दिवसोऽतिमात्रं अत्यर्थमेव क्षणदा च तन्वी।
उभौ विरोधक्रियया विभिन्नौ जायापती सानुशयाविवास्ताम्॥
—रघुवंश १६ सं० ४४,४५

सर्व प्रथम आर्यभट ने ही यह रीति चलाई कि अपने समय तथा स्थान का नाम अपने ग्रंथ में लिखा है। फिर तो उनके अनुकरण में ब्रह्मगुप्त ने अपने पिता का नाम, ग्रंथ लिखने का समय तथा उस समय में अपनी अवस्था को अपने ग्रंथ में लिखा। तदुपरान्त भास्कराचार्य ने अपने पिता का नाम, अपने स्थान का पूर्ण परिचय, ग्रंथ लिखने का समय तथा अपनी अवस्था लिखी। अतः इस उत्तम रीति के प्रादुर्भावक आर्यभट ही हुए हैं।

२३ वर्ष की अवस्था में ग्रन्थ लिखने का कारण

उनके पूर्व ब्रह्मसिद्धान्त ज्योतिष का ग्रंथ था। संभवतः उसमें कालान्तर के कारण कुछ दोष आ गया था अर्थात् उसमें कुछ मिलावट आगई थी। इसीलिये उसे शुद्धकर सुन्दर स्वरूप में उस ज्ञानरत्न को रखना ही उनका उद्देश्य था। उन्होंने ग्रन्थान्त में दो श्लोक दिये हैं—

सदसद्ज्ञानसमुद्रात् समुद्धृतं देवताप्रसादेन।
सद्ज्ञानोत्तमरत्नं मया निमग्नं स्वमतिनावा ।।४९।।

—आ० भ०, पृ० १११।

आर्यभटीयं नाम्ना पूर्वं स्वायम्भुवं सदा सद्यत्।
सुकृतायुषोः प्रणाशं कुरुते प्रतिकंचुकं योऽस्य ।।५०।।

—आ० भ०, पृ० ११२।

अर्थात् "सत् असत् ज्ञान रूप समुद्र में सत् ज्ञानरूप उत्तम रत्न जो छिपा हुआ था उसे ब्रह्मदेवता की कृपा से अपनी बुद्धिरूप नौका के द्वारा मैंने (आर्यभट ने) निकाला।"

"पहले ब्रह्मा का जो सत्ज्ञान था वही आर्यभटीय ग्रन्थ के नाम से प्रकाशित किया जाता है। इसमें छिद्रान्वेषण के द्वारा दोषारोपण करनेवाला अपने पुण्य तथा अपनी आयु का क्षय करेगा।"

इसका अभिप्राय यही है कि ब्रह्मसिद्धान्त में दोष आ गये थे। उन दोषों को हटाकर केवल सत्ज्ञान को ही एकत्रित किया गया है। इसलिये नाम्ना यह आर्यभटीय है वास्तव में यह ब्रह्मसिद्धान्त ही है। आजकल का उपलब्ध ब्रह्मसिद्धान्त आर्यभट के समय का ब्रह्म-सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि उसके विषय के साथ इसका ऐक्य नहीं है। इसलिये वह ब्रह्म-सिद्धान्त अन्वेषणीय है।

'षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्', इस वचन से ३६ वर्ष तक ब्रह्मचर्य अवस्था में रहकर वेदशास्त्र पढ़ने को कहा है। वेद के 'शतं जीवेम शरदः, शतं शृणुयाम शरदः, शतं प्रब्रुवाम शरदः, शतमदीनाः स्याम शरदः" इस वाक्य से शत वर्ष जीऊँ, शत वर्ष तक सुनू, शत वर्ष तक बोलता रहूँ, शत वर्ष तक दीनावस्था में न जाऊँ इससे सौ वर्ष के जीवन की कामना का आभास मिलता है। जीवन में ब्रह्मचर्य,गार्हस्थ्य, वाणप्रस्थ, और संन्यास ये चार अवस्था है। यदि चारों अवस्था को बराबर माना जाय तो भी ब्रह्मचर्यावस्था २५ वर्ष की होती है। अर्थात् २५ वर्ष तक पढ़ना-लिखना चाहिये। ऐसी परिस्थिति में तेइस वर्ष की अवस्था में ही आर्यभट कृतविद्य होकर ग्रन्थकार हो गये। इस तरह की उनकी विशिष्ट प्रतिभा थी।

लोगों की ऐसी भी कल्पना हो सकती है कि कलियुग के ३६०० वर्ष बीतने पर आर्यभट की अवस्था तेइस वर्ष की रही होगी और उन्होंने आर्यभटीय को पीछे लिखा होगा। किन्तु ऐसी आशंका की निवृत्ति "त्र्यधिका विंशतिरब्दास्तदेह मम जन्मनोऽतीताः" इसमें इह

शब्द से हो जाती है 'इह ग्रन्थलेखनसमये'। इह का यहां यही अर्थ है कि इसी समय में मैंने (आर्यभट ने) इस ग्रंथ को लिखा। चूंकि आर्यभट ने ग्रंथलेखनकाल में अपनी अवस्था लिखी है, इसीके अनुकरण में ब्रह्मगुप्त एवं भास्कराचार्य ने अपने ग्रंथ लिखने के समय में अपनी अवस्था दी है।[१]

बीस-एकइस वर्ष की अवस्था तक कृतविद्य होकर आर्यभट मूल्यवान् ज्ञानसंचय के पीछे पड़े होंगे और तेइस वर्ष की अवस्था में उन्होंने इस अभ्यर्चित ज्ञान को प्रकाश में लाया। लगभग इसी अवस्था में ट्रिनिटी कालेज से एम० ए० परीक्षा में उत्तीर्ण होकर १६६५ ई० में प्लेग के कारण अपने घर पर सर आइजक न्यूटन विचार में मग्न थे तो एकदिन सेव के पेड़ से एक सेव को गिरते देखकर उन्हें पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का ज्ञान हुआ था। यह ऐसी अवस्था है जिस समय में ज्ञान संपादन के लिये लोगों के मन में उत्कट इच्छा होती है और नये-नये ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ करता है। इसी अवस्था में विभिन्न क्षेत्रों के लोग अपने अपने कार्यक्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ होने का प्रयत्न करते हैं। अर्थात् बीस से पचीस वर्ष की अवस्था विशिष्ट ज्ञान संपादन के लिये साधारणतया उपयुक्त मानी गयी है।

प्रतिभा का स्फुरण समस्त विद्या पढ़कर कृतविद्य होने से होता है ऐसी बात नहीं है। प्रतिभावान व्यक्ति जितना ही पढ़ते हैं उसी पर विचार कर उनकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा प्रस्फुटित हो जाती है। आर्यभट ने भी इसी अवस्था में आर्यभटीय को लिखा।

न्याय शास्त्र के बड़े विद्वान गङ्गेशोपाध्याय ने अपनी तत्त्वचिन्तामणि नामक पुस्तक के प्रारम्भ में लिखा है :—

अन्वीक्षालयमाकलय्य गुरुभिर्ज्ञात्वा गुरूणां मतं
चिन्तादिव्यविलोचनेन हि तयोः सारं गृहीत्वाखिलम्।
तत्त्वचिन्तामणि—मंगल श्लोक।

अर्थात् गुरुओं से न्यायशास्त्र सीखकर तथा मीमांसा शास्त्र को जानकर चिन्ता विचाररूप जो दिव्य दृष्टि है उससे उन दोनों शास्त्र के तत्त्व को समझ कर (इस ग्रंथ को लिख रहा हूँ)। इस प्रकार का बुद्धिविवेक एक दिव्य दृष्टि है जिसके द्वारा तादृश दृष्टि-सम्पन्न लोग भूत, भविष्य, वर्त्तमान, समीपस्थ, दूरस्थ सभी विषयों का ज्ञान कर लेते हैं। इसी प्रकार उसी बुद्धि से बुद्धिमान आर्यभट ने इस अपूर्व ज्ञान को लिखा होगा।

आर्यभट ने समस्त संसार का विशेषकर भारत का तत्रापि बिहार राज्य का प्रथम वैज्ञानिक होकर जो मुखोज्जल किया है उसके लिये यह देश उनका सदा ऋणी रहेगा। उन्होंने ही भारत के तत्कालीन लोगों में सर्वप्रथय विज्ञान का वीजवपन किया।

आर्यभटीय ग्रंथ की विशेषता

आर्यभट के ग्रंथ का नाम आर्यभटीय है क्योंकि आर्यभट का लिखा हुआ है। आर्यभट के नाम में आर्य शब्द आर्यावर्त्त देश को भी सूचित करता है। चूंकि उनके नाम में आर्य शब्द है इसलिये संभवतः आर्याछन्द में ही उन्होंने इस ग्रंथ को लिखा है। यह ग्रंथ छोटा है फिर भी चार भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम भाग में ग्यारह श्लोक हैं और उसका

---

[१] "त्रिंशद्वर्षेण कृतो जिष्णुसुतब्रह्मगुप्तेन', । ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त।
रसगुणपूर्णमही १०३६ समशकनृपसमये भवन्ममोत्पत्तिः।
रसगुण ३६ वर्षेण मया सिद्धान्त शिरोमणी रचितः॥ —शि० शि०; गोलाध्याय

नाम गीतिका पाद हैं। इस पाद में युगों का प्रमाण, ग्रहभगणों का प्रमाण, पृथ्वी का चलन मन्दोच्च-शीघ्रोच्च भगण, आदि एक विचित्र संकेत में दिये गये हैं। अक्षरों तथा मात्राओं से अंक बनाये गये हैं। अक्षरों के द्वारा अंकों को जानने का प्रकार यद्यपि सर्वप्रथम जैमिनीय सूत्र के ज्योतिष के फलित ग्रंथ में देखने में आता है तथापि जैमिनि का संकेत और आर्यभट का संकेत भिन्न-भिन्न है। जिस प्रकार अक्षरों में अंक का ज्ञान आर्यभट ने किया है उसी प्रकार ग्रीक लोग भी अक्षरों से अंक का ज्ञान करते थे। आर्यभट के समय में यवनों (ग्रीक) का आना-जाना पटने में था। वराहमिहिर ने ज्योतिष जानने वाले यवनों की बड़ी प्रशंसा की है। उन्होंने बृहज्जातक ग्रंथ में बहुत से यवन शब्दों का उपयोग किया है। वराहमिहिर का ज्योतिष सिद्धान्त ग्रंथ पञ्चसिद्धान्तिका में पौलिश तथा रोमक सिद्धान्त वाह्यदेशीय मालूम पड़ते हैं। चूँकि आर्यभट के समय के थोड़े ही पीछे वराहमिहिर हैं इसलिये आर्यभट को भी यवनों से संपर्क हुआ हो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अगर अक्षर से अंक का ज्ञान आर्यभट ने यवनों से लिया तो स्वरों से उन्होंने जिन स्थानों या शून्यों का ज्ञान किया है उसका ज्ञान यवनों को भी रहता। परन्तु यवनों को ऐसा ज्ञान नहीं था। इसलिये इस रीति के निर्माण करने वाले आर्यभट ही हैं। इस प्रकार के संकेत में उन्होंने इन वस्तुओं को क्यों रखा इसके संवन्ध में अनेक विचार आते हैं। प्रथम कारण तो यह हो सकता है कि ऐसा विशिष्ट ज्ञान सर्वजनविदित न हो केवल संबन्धी तथा भक्त शिष्य ही इसको जान सके इस दृष्टि से नवीन सकेत में इन भगणों की रक्षा की हो। क्योंकि शास्त्र में लिखा हुआ है कि भक्तों को, शिष्यों को, बहुत दिन तक अपने पास रहने वालों को, गुणज्ञों को, भ्राता, मित्र, लड़के इन्हीं सबों को यह गुप्त विद्या देनी चाहिये। द्वेष करने वाले, कृतघ्न, दुर्जन, दुराचारी, अल्पदिन तक साथ रहने वाले को वह ज्ञान जो ब्रह्मा तथा वशिष्ठ से उपलब्ध हुआ हो एवं जो दिव्य तथा अतीन्द्रिय हो, नहीं देना चाहिये।[१] इस नियम के प्रतिकुल जो चलता है उसकी आयु तथा पुण्य का क्षय होता है। मनुस्मृति में भी लिखा हुआ है कि विद्यादेवी ब्राह्मण के पास आई और उनसे कहा कि "मैं तुम्हारी निधि हूं। गुण में छिद्रान्वेषण करने वाले को मुझे न दो, तभी मैं बलवती रहूँगी"।[२] इसलिये यह प्राचीन परिपाटी थी कि गुह्य विषय सब को न देना। यह बात केवल भारत में ही नहीं अन्य सभी देशों में थी। ग्रीस देश में जब रेखागणित की बड़ी उन्नति हो रही थी तब जिस घर में यह विद्या सिखलाई जाती थी उसके द्वारा पर लिखा हुआ था कि इसमें अभिज्ञ लोग ही प्रवेश करें।

महान् सिकन्दर के वारे में यह बात कही जाती है कि जब वे एशिया महादेश में लड़ाई लड़ रहे थे तब उन्हें मालूम हुआ कि उनके गुरु अरिस्टोटल (अरस्तु) ने एक पुस्तक

---

[१] दिव्यं ज्ञानमतीन्द्रियं यदृषिभिर्ब्राह्मं वशिष्ठादिभि:
पारंपर्यवशाद्रहस्यमवनीं नीतं प्रकाश्यं ततः।
वैतत् द्वेषिकृतघ्नदुर्जनदुराचाराचिरावासिनां
स्यादायुः सुकृतक्षयो मुनिकृतां सीमामिमामुज्झतः।

शिद्धान्त सिरोमणि, पृ० २८१, श्लोक ९।

[२] विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽधि-रक्ष माम्।
असूयकाय मां मादास्तथास्यां वीर्यवत्तमा॥

म० स्मृ० २.११४।

प्रकाशित कर दी। इस पर सिकन्दर ने अरने गुरू के पास एक पत्र लिखा कि जिस विद्या के कारण वे लोग अपने को दूसरों से श्रेष्ट समझते हैं, यदि वह ज्ञान सार्वजनिक हो जाय तो उनलोगों की क्या विशेषता रह जायगी। पत्रोत्तर में अरस्तू ने लिखा कि वे उस अपूर्व ज्ञान को प्रकाश में लाये भी हैं और नहीं भी लाये हैं। जिसका अर्थ था कि उसे प्रकाशित होने पर भी उनकी शिष्यपरम्परा ही उसको समझ सकेगी, सब नहीं समझ सकेंगे। इस प्रकार युरोप देश में भी यही परिपाटी थी कि अपूर्व वस्तु अपने ही यहाँ रहे। इस दृष्टि से आर्यभट ने एक विशेष संकेत से उन भगणों की रक्षा की होगी। वर्त्तमान काल में भी उन्नतिशील देश अपनी वैज्ञानिक विधि एवं कार्यक्षेत्र को गुप्त रखने में तत्पर रहता है। दूसरी बात यह है कि बहुत अल्प शब्द में बहुत बड़ा काम हो जाता है। तीसरी बात यह है कि इतने अंकों को प्रकाशित करने का उपाय उस समय तक नहीं था। दश स्थान तक, वृन्द तक स्थान का ज्ञान होने पर भी 'अङ्कस्य वामा गतिः' रीति का उद्भावन नहीं हुआ था। यह इसलिये ज्ञात होता है कि आर्यभट ने २०००० (वीस हजार) व्यास में परिधिमान ६२८३२ को इस प्रकार से लिखा है कि एक सौ चार को आठ से गुण दें तथा वासठ हजार जोड़ दें, इतनी परिधि होती है। पीछे के लोग 'अङ्कस्य वामा गतिः' रीति का ज्ञान होने पर इस संख्या को द्विकाग्न्यष्टयमर्त्तु मितः इतने में ही प्रकाशित किया है। इसलिये बड़ी-बड़ी संख्या को शब्द के द्वारा प्रकाशित करने में कठिनता थी। इसीलिये इस नवीन रीति की कल्पना हुई हो। अथवा जिस किसी कारण से इस नवीन संकेत के द्वारा अंकों का प्रकाशन किया गया हो यह रीति एक अपूर्व वस्तु है। इसलिये संक्षेप में इसका विवरण इस प्रकार दिया जाता है :—

"वर्गाक्षराणि वर्गे ऽवर्गेऽवर्गाक्षराणि कात् ङ्मौ यः।
खद्विनवके स्वरा नव वर्गेऽवर्गे नवान्त्यवर्गे वा ॥"

—आ० भ०, पृ० १, श्लोक २।

उपर्युक्त एक ही श्लोक में आर्यभट ने सभी अंको को गुथ दिया है। इस श्लोक का साधारण अर्थ तो यही है कि वर्ग स्थान में वर्गाक्षर को, अवर्ग स्थान में अवर्गाक्षर को रखे। क से एकादि संख्या जानें। ङ और म के योग से य होता है। अठारह शून्य स्थान में नौ स्वरों को वर्ग तथा अवर्ग स्थान में रखें। इस प्रकार नौ स्वरों को वर्ग अवर्ग में रखने के अनन्तर पुनः वर्ग अवर्ग में उन्हीं स्वरों को रखें। विशेष अर्थ यह हैं कि व्याकरण शास्त्र में पाँच वर्ग हैं जैसे क, ख, ग, घ, ङ कवर्ग; च, छ, ज, झ, ञ चवर्ग; ट, ठ, ड, ढ, ण टवर्ग; त, थ, द, ध, न तवर्ग; प, फ, ब, भ, म पवर्ग हैं; और य, र, ल, व, श, ष, स, ह इन आठ अक्षरों को अवर्ग कहा है। स्वर यद्यपि १६ हैं तथापि केवल ह्रस्व स्वर का ही ग्रहण है जहाँ दीर्घ भी है जिनकी संख्या ९ हैं, जैसे अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ। इन ९ स्वरों से शून्य स्थान का बोध होता है जब ये स्वर वर्गात्मक अक्षरों में मिलते हैं। वर्गाक्षरों में मिलकर वर्ग वाले शून्य अर्थात् शत, अयुत, प्रयुत, इत्यादि का बोध कराते हैं और अवर्गाक्षरों में मिलकर अवर्ग वाला शून्य जैसे दश, सहस्त्र, लक्ष, कोटि आदि शून्य स्थान का ज्ञान कराता है। उदाहरण के लिये क से संख्या का बोध, जैसे क=१, ख=२, ग=३, घ=४, ङ=५, च=६, छ=७, ज=८, झ=९, ञ=१०, ट=११, ठ=१२, ड=१३, ढ=१४, ण=१५, त=१६, थ=१७, द=१८, ध=१९, न=२०, प=२१, फ=२२, ब=२३, भ=२४, म=२५, य=३०, र=४०, ल=५०, व=६०, श=७०, ष=८०, स=९०, ह=१००। ङ=५, म=२५ दोनों के योग से अर्थात् ३० को य कहा है।

नौ स्वर वर्गाक्षर अवर्गाक्षर में मिलकर अठारहों स्थान का प्रदर्शन निम्नलिखित रूप से करते हैं :—

क्+अ=क =१
क्+इ= कि=१००
क्+उ= कु =१००००
क्+ऋ= कृ=१००००००
क्+लृ=क्लृ=१००००००००
क्+ए= के =१००००००००००
क्+ऐ =कै =१०००००००००००००
क्+ओ=को=१००००००००००००००
क्+औ=कौ=१००००००००००००००००

एवं

ख्+अ=ख =२
ख्+इ =खि=२००
ख्+उ =खु =२००००

इसी प्रकार आगे भी। अब अवर्ग अक्षरों में देखिये :—

य्+अ=य =३०
य्+इ=यि=३०००
य्+उ=यु =३०००००
य्+ऋ=यृ=३००००००० इत्यादि,

एवं

र्+अ=अ=४०
र्+इ=रि=४०००
र्+उ=रु=४००००० इत्यादि।

यहाँ ह्रस्व दीर्घ स्वर के कारण कोई संख्याभेद नहीं होता है, जैसे कि=१०० या की=१०० तथा संयुक्ताक्षर में प्रयुक्त स्वर दोनों व्यंजन का स्वर समझा जाता है, जैसे ख्यु से खु. यु. का बोध होता है।

आर्यभट ने व्यासपरिधि का संबन्ध जितना सूक्ष्म लिखा है यह देखकर आश्चर्य होता है। इतनी बात तो उन्होंने स्पष्ट लिखी है कि वृत्तपरिधि के षष्ठांश की पूर्णज्या वृत्त-व्यासार्ध के तुल्य होती है। व्यासार्ध को छै से गुणा करने पर त्रिगुण व्यास होगा। उससे वृत्तपरिधिमान बड़ा होगा क्योंकि पूर्णज्या से चापमान बड़ा होता है। पूर्णज्या सरल रेखा है और उसका चाप वक्र रेखा है जो सरल रेखा से अधिक है। तब उन्होंने परीक्षा करके देखा तो २०००० व्यास में ६२८२४ परिधि प्राप्त किया। इस प्रकार इतने पहले इस संबन्ध को इतनी सूक्ष्मता के साथ कहा। त्रिभुज-चतुर्भुज के फलानयन में एक आयाम रेखा लम्ब रेखा का साधन करके उसके बल से फल साधन उन्होंने किया। पाटीगणित के एक प्रश्न के उत्तर करने में जो रीति है वह बिना वर्गसमीकरण जाने हुए नहीं हो सकती है। इसलिये उन्हें वर्गसमीकरण का ज्ञान था ऐसा सिद्ध होता है। कुट्टक गणित को आर्यभट ने कहा है जो विषय बहुत दिनों तक युरोप वालों को मालूम नहीं हुआ था।

भारत और युरोप देश के मध्य में अरब देश पड़ता है। अरबों ने दोनों देशवालों से बहुत कुछ सीखा तथा दोनों देशों के विद्वानों के साथ आदान-प्रदान किया। अर्थात् जो कुछ हिन्दुओं से सीखा उसे युरोपवालों को दिया तथा युरोपवालों से जो कुछ सीखा उसका कुछ अंश भारत को दिया। युक्लिड की रेखागणित पहले अरबी में अनूदित हुई। पीछे पण्डित जगन्नाथ ने शिवाजी के समय में संस्कृत में उसका अनुवाद किया। रेखागणित नाम पहले-पहल उन्होंने ही रखा। इसके पहले प्रायः क्षेत्रमिति कहा जाता था।

ब्रह्मगुप्त का करण ग्रंथ खण्डखाद्य का अनुवाद बड़े आदर से अरबी में कराया गया। वहाँ से वह विद्या युरोप गई। अरब वाले स्वयं उसपर कुछ नवीन विषय नहीं सोचते थे, केवल आदान-प्रदान करते थे। इस विषय की खोज की आवश्यकता है कि कौन-कौन गणित भारत से अरबों के द्वारा युरोप गया। शून्य स्थान, दशमलव, बीजगणित तो भारत से ही गया यह उन विषयों के नाम से ही ज्ञात होता है जो अरबों ने इन विषयों के नाम रखे हैं।

आर्यभट के एक सौ वर्ष बाद ब्रह्मगुप्त हुए। उनका ग्रंथ ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त है। ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त को देखने से मालूम होता है कि गणित तथा सिद्धान्त दोनों विषयों में वे आर्यभट से बहुत अधिक विषयों को लिखा है। तथापि विशेष धन्यवादार्ह आर्यभट ही हैं जिन्होंने सर्वप्रथम गणित ज्योतिष पर पुस्तक लिखी तथा अनेक नवीन विषयों को कहा। सिद्धान्त में चाप और जीवा का सम्बन्ध सर्वत्र आता है। आर्यभट ने एक पाद के नव्वे अंश के भीतर पौने चार-चार अंश का चौबीस विभाग करके उनकी ज्याओं को जानने का प्रकार कहा है तथा उनका मान लिख दिया है। यह बहुत बड़ा काम आरम्भ में ही किया गया है।

पृथ्वी के अनेक मुख्य स्थानों का नाम, जैसे लंका, अवन्ती, मेरु, बड़वानल, यवकोटि, रोमक, सिद्धपुर दिया है तथा इन स्थानों में सूर्य के उदय-अस्त के बारे में कहा है। उज्जैन का अक्षांश भी २२° ३०′ होता है, ऐसा कहा है। उज्जैन की चर्चा से तथा वहाँ की अक्षांश देने से ऐसा मालूम पड़ता है कि उनके समय में उज्जैन ज्योतिष गणना का मुख्य स्थल था।

आर्यभट की चर्चा

आर्यभट ने अपने ग्रंथ में ब्रह्मा को छोड़कर और किसी ग्रंथकार की चर्चा नहीं की है। किन्तु सभी परवर्त्ती आचार्यो ने किसी न किसी प्रकार आर्यभट की चर्चा की है। लल्लाचार्य लिखते हैं :—

'विज्ञाय शास्त्रमलमार्यभटप्रणीतं तंत्राणि यद्यपि कृतानि तदीयशिष्यैः'। अर्थात् आर्यभट प्रणीत शास्त्र को अच्छी तरह से पढ़कर यद्यपि उनके शिष्यों ने ग्रंथ बनाये हैं। परमेश्वर भट-दीपिका टीका लिखने वाले के मत से लल्ल भी आर्यभट के शिष्य हैं।

वराहमिहिर ने आर्यभटप्रतिपादित भूभ्रमण का खंडन किया है। ब्रह्मगुप्त ने तो अनेक स्थानों में आर्यभट का खंडन किया है चाहे उनका कथन सत् या असत् हो। किन्तु अपने खण्डखाद्यकरण में आर्यभट के मत का ही अवलम्बन लिया है। भास्कराचार्य अपनी सिद्धान्तशिरोमणि में लिखते हैं, "अतोऽयुतद्वयव्यासे द्विकाग्न्यष्टयमर्तु मितः परिधिरार्यभटाद्यैरङ्गीकृतः"। इस प्रकार प्रायः सभी बड़े ज्योतिष के ग्रंथकार किसी न किसी रूप में आर्यभट की चर्चा करते हैं और ऐसा करना उचित भी है क्योंकि सर्वप्रथम ज्योतिष के आचार्य पौरुषग्रंथकारों में वही हुए हैं।

यद्यपि ब्रह्मगुप्त ने भी अपने सिद्धान्त की रचना ब्रह्मसिद्धान्त के आधार पर की है क्योंकि उन्होंने लिखा है :—

ब्रह्मोक्तं ग्रहगणितं महता कालेन यत् खिलीभूतम् ।
अभिधीयते स्फुटं तज्जिष्णुसुतब्रह्मगुप्तेन ।।

ब्रा० स्फु० सि०, पृ० ९, श्लो० २ ।

तथापि दोनों के ब्रह्मसिद्धान्त भिन्न हैं। आर्यभट ने तो अपने ग्रंथ के मंगलश्लोक में भी प्रथमतः ब्रह्मा को ही नमस्कार करते हैं। ब्रह्मा ही उनके देवता हैं—

ब्रह्मकुशशिबुधभृगुरविकुजगुरुकोणभगणान्नमस्कृत्य ।

—आ० भ०, पृ० १२, श्लोक १ ।

यहाँ सबसे पहले ब्रह्मा का ही नाम है। इसी प्रकार —

'सदसज्ज्ञानसमुद्रात् समुद्धृतं देवताप्रसादेन' ।

यहाँ भी देवता का प्रसाद ब्रह्मा का ही प्रसाद है। ब्रह्मगुप्त अपने ग्रंथ के मंगलश्लोक में महादेव की प्रार्थना करते हैं—

जयति प्रणतसुरासुरमौलिरत्नप्रभाच्छुरितपादः ।
कर्त्ता जगदुत्पत्तिस्थितिविलयानां महादेवः ।।

—ब्रा० स्फु० सि०, मंगलश्लोक ।

इन दोनों बड़े ग्रंथकारों ने तो ब्रह्मसिद्धान्त को अपना आधार माना है किन्तु अन्य आचार्य भी किसी न किसी आचार्य के ज्यौतिष ग्रंथ को आधार मानकर स्वयं ग्रंथ रचना करते आये हैं। भास्कराचार्य ने तो स्पष्ट ही लिखा है, "अतएवातिप्राज्ञा गणकाः सांप्रतोपलब्ध्यनुसारिणं प्रौढ़गणकस्वीकृतं कमप्यागममङ्गीकृत्य ग्रहगणित आत्मनो गणितगोलयोर्निरतिशयं कौशलं दर्शयितुं तथान्यैर्भ्रान्तिज्ञानेनान्यथोदितानर्थांश्च निराकर्त्तुमन्यान् ग्रन्थान् रचयन्ति। ग्रहगणित इति कर्त्तव्यतायामस्माभिः कौशलं दर्शनीयं। यथात्र ग्रन्थे ब्रह्मगुप्तस्वीकृतागामोऽङ्गीकृत इति"। अर्थात् प्राचीन बुद्धिमान गणक वर्त्तमान काल में दृग्गणितैक्य करनेवाला किसी प्रौढ़ गणक के द्वारा स्वीकृत किसी आगम को स्वीकार कर ग्रहगणितगोल में अपना प्रवुद्ध कौशल दिखाने के लिये तथा दूसरे आचार्यों ने भ्रम से जो अशुद्ध विषयों को कहा है उस भ्रम ज्ञान को हटाने के लिये ग्रंथ की रचना करते हैं। ग्रहगणित में मुझे भी अपना कौशल दिखलाना है। इसलिये इस अपने ग्रंथ में ब्रह्मगुप्त के द्वारा स्वीकार किया हुआ आगम स्वीकार किया गया है। इस प्रकार भास्कर के ग्रंथ सिद्धान्तशिरोमणि का मूल आधार ग्रंथ ब्रह्मगुप्त का बनाया हुआ ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त है। इसी तरह अन्य ग्रन्थकार भी किसी आचार्य के ग्रंथ को आधार मानकर पूर्वकथित प्रयोजनों से ग्रंथों की रचना करते हैं। कुछ लोग जगत् के उपकार के लिये, कोई आत्मसुख के लिये ग्रंथों का निर्माण करते हैं। आर्यभट ने भी कुसुमपुर में जो अभ्यर्चित ज्ञान को कहा है उसका भी अभिप्राय लोगों के उपकार के लिये है।

चूंकि वराहमिहिर ने शक ४२७ में पंचसिद्धान्तिका लिखी और आर्यभट ने शक ४२१ में आर्यभटीय इसलिये दोनों करीब-करीब एक ही समय के हैं। चूंकि वराहमिहिर ने

आर्यभट की चर्चा की है, आर्यभट के ग्रंथविषय का खंडन किया है और छै वर्ष के अन्दर उन्हें आर्यभट के ग्रंथ का विषय मालूम हो सका जिसका उन्होंने खंडन किया है, इसलिये टीकाकार का अनुमान है कि वे दोनों एक ही नगर के रहनेवाले थे। वराहमिहिर को मगध की राजधानी पटना में होने का और भी अन्य कारण है। प्रथम यह है कि वराहमिहिर के पंचसिद्धान्तिका को छोड़कर प्रायः अन्य सभी ग्रंथों पर टीका लिखने वाले महापंडित भट्टोत्पल (८८८ शक) ने वृहत् संहिता की टीका में वराहमिहिर को मगधद्विज या मगद्विज कहा है। अर्थात् ये मगध के ब्राह्मण या शाकद्वीपीय ब्राह्मण थे। इनके शाकद्वीपीय होने में एक प्रमाण यह भी है कि ये सूर्योपासक थे। अपने सभी ग्रंथों के मंगलश्लोक में श्री सूर्यनारायण की ही इन्होंने स्तुति की है। इनके पिता का नाम सूर्यदास था। अपने नाम के अंत में सूर्य (मिहिर) लगाया था। सूर्य की ही उपासना से सब कुछ मिल सकता है ऐसा इनका विश्वास था। इसलिये वे शाकद्वीपीय थे। बिहार राज्य मे शाकद्वीपीय ब्राह्मण बहुत देखे जाते हैं। जीविका की दृष्टि से पीछे उज्जैन चले गये थे। उनके पटने के होने का कारण यह भी जान पड़ता है कि उस समय ग्रीक लोग पटना में थे। क्योंकि पटनानगरी उस समय एक महान साम्राज्य की राजधानी थी। यहीं वराहमिहिर को यवनों से संपर्क हुआ होगा और उनसे कुछ बातें लिये होंगे। वे अपनी बृहत् संहिता में लिखते है—

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्ब्रह्मविद्द्विजाः॥

बृ० सं० I, पृ० ७९, श्लो० १४

इस प्रकार आर्यभट और वराहमिहिर दोनों पटना (बिहार) के थे। उनके उज्जैन जाने के प्रसंग में ऐसा भी सोचा जा सकता है कि आर्यभट की प्रख्याति से वे यहाँ रहकर जीविकोपार्जन में कठिनाई का अनुमान किये होंगे और अपना कर्मक्षेत्र स्थानान्तर करने का निश्चयकर उज्जैन गये होंगे।

आर्यभट के समय में ज्योतिष के और विद्वान नहीं थे ऐसी बात नहीं है। विद्वान लोग भी थे और उनके कुछ ग्रंथ भी थे। कारण आर्यभट के समकालीन वराहमिहिर ने जिन पाँच सिद्धान्तों पर विचार किया है सभी ग्रंथ दूसरे विद्वानों के ही थे और उस समय उपलब्ध भी थे। परन्तु आर्यभट को उन ग्रंथो पर आस्था थी ही नहीं। इसलिये उन्होंने उन ग्रन्थों की चर्चा तक नहीं की। उनको ब्रह्म सिद्धान्त का आदर था। उसमें भी कालान्तर से दोष आ गया था जिसको छोड़कर ब्रह्मसिद्धान्त का शुद्ध स्पष्ट मत लेकर अपनी सूक्ष्म बुद्धि के योग से उन्होंने आर्यभटीय ग्रंथ को लिखा। यद्यपि यह ग्रंथ छोटा है तथापि ज्योतिष का तत्त्वभूत सार है। प्रसिद्ध बातों को छोड़ दी गई है। केवल कठिन विषयों को कहा गया है और वह कथन भी इतना संक्षेप और ऐसी भाषा में है कि एकबार पढ़ते ही कोई नहीं समझ सकता। जब ध्यानपूर्वक पढ़ेगा तभी उसका तत्त्व समझ में आ सकेगा। बिना उपपत्ति जाने सूत्रों का अर्थ करना कठिन विषय है।

ऐसा भी प्रश्न लोगों के मन में उठ सकता है कि प्रकाशित दो टीकायें, नीलकण्ट का भाष्य तथा परमेश्वर की भटदीपिका, प्राप्त रहने पर भी अन्य टीका लिखने की क्या आवश्यकता थी। इस प्रसंग में टीकाकार का यही उत्तर है कि उपलब्ध टीकायें संस्कृत गद्यों से भरे हुए है। थोड़ी सी बातें बहुत आडम्बर से कही गयी हैं। आर्यभट एवं

ब्रह्मगुप्त के अनन्तर जो समय आया उसमें वैज्ञानिक विषयों पर अल्प ध्यान दिया गया। संस्कृत साहित्य का प्रदर्शन अच्छी तरह से होने लगा। इसलिये शक १५८० में ज्योतिष के एक बड़े विद्वान कल्पक कमलाकरभट्ट ने कहा कि इस ज्योतिष शास्त्र में युक्ति दिखलानी चाहिये। पदलालित्य संस्कृत गद्यों का भरमार इस शास्त्र में अपेक्षित नहीं है। उन्होंने कहा है —

"भृङ्गारपदलालित्यग्रन्थासाक्त्या विषं त्विदम्।
वासनाशास्त्रमज्ञानां चामृतं तद्विदां सताम् ।। १९ ।।
प्राचीनरीतिभिन्नेऽस्मिन् मूर्खो निन्दां करिष्यति।
न दुःखं तेन मे यस्माद् ज्ञातारो बहवो भुवि ।।२०।।

—सिद्धान्ततत्त्वविवेक, पृ० ४०८।

अर्थात् जिन्हें शृङ्गार पदलालित्य में आसक्ति है उनके लिये युक्तिमूलक जो यह ज्योतिष शास्त्र है वह विष के समान है। चाहे कैसी ही भाषा में क्यों न हो सयुक्तिक विषय को देखकर उसके वेत्ता को वह अमृत तुल्य मालूम पड़ता है। कमलाकर कहते हैं कि प्राचीन रीति से भिन्न रीति इस ग्रंथ (सिद्धान्त तत्त्व विवेक) में अपनाई गई है। इसलिये मूर्ख लोग उनके इस ग्रंथ 'सिद्धान्त तत्त्व विवेक' की निन्दा करेंगे इससे उनको दुःख नहीं है क्योंकि विद्वान जानकार लोग भी संसार में बहुत हैं।

म० म० पं० सुधाकर द्विवेदी के समय से भारतीय गणित ज्योतिष भी नवीन युरोपीय संकेत से अल्प शब्दों में लिखे जाने लगे हैं जिससे अल्प श्रम से बिषय समझने में आ जाता हैं, क्षेत्र लिखकर भी विषय स्पष्ट किया जाता है। इसलिये नवीन संकेत क्षेत्र आदि देकर विषय की स्पष्टता की गई है। और सकल साधारण को आर्यभट की विशेषता मालूम हो इस दृष्टि से राष्ट्रभाषा हिन्दी में भी अच्छी तरह से व्याख्या तथा युक्ति प्रदर्शित की गई है। इससे ग्रंथ का आकार भी छोटा एवं समझने योग्य स्पष्ट हो गया है। इन सभी दृष्टियों से भी नवीन संस्करण की आवश्यकता थी जिस कार्य को बिहार रिसर्च सोसाइटी ने करवाया है। वर्त्तमान टीकाकार को अत्यधिक आनन्द होगा यदि कोई विद्वान् इस पुस्तक की और अच्छी टीका लिख दें। टीकाकार कैलाशवासी म०म० पं० सुधाकर द्विवेदी जी के अल्प दिन का शिष्य है। इनकी भी इच्छा थी कि आर्यभटीय की और अच्छी पाण्डुलिपि प्राप्त कर इसमें सुधार कर एक नवीन संस्करण हो। किन्तु बहुत दिन तक प्रतीक्षा करने पर भी जब कोई पाण्डुलिपि नहीं मिली तो मुद्रित पुस्तक को ही आधार मान कर यथासाध्य उसकी व्याख्या की गई है। जितने भी प्राचीन ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं चाहे वह वराहमिहिर की पञ्चसिद्धांतिका हो या ब्रह्मगुप्त का ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त या लल्ल का शिष्यधीवृद्धिद हो अथवा श्रीपतिभट्ट का सिद्धान्त शेखर सभी ग्रंथों में कुछ न कुछ त्रुटियाँ है, तथापि संपादकों ने उन पुस्तकों को प्रकाशित किये हैं। इसी प्रकार यह आर्यभटीय भी है। जो कुछ मिल सका उसी को भित्ति बनाकर चित्र लिखा गया है। कहा जाता है कि म०म० बापूदेव शास्त्री जी ने भास्कराचार्य की सिद्धान्त शिरोमणि को शुद्ध करके छपवाया इसलिये वे संशोधक होकर विख्यात हो गये। इस कार्य से उन्हें बहुत यश मिला। शास्त्री जी को शुद्ध संस्करण प्रकाशित करने में मुनीश्वर की मरीचिटीका तथा नृसिंह दैवज्ञ की वासना

वार्तिक टीका से बड़ी सहायता मिली होगी। अतः बिना आधार का किसी विषय में निर्णय करना कठिन होता है।

ज्योतिष शास्त्र का तीन स्कन्ध है। प्रथम गणित सिद्धान्त है, द्वितीय संहिता जिस में प्राकृतिक घटनाओं पर विचार है, और तृतीय फलित जिसे जातक भी कहते हैं। किन्तु संहिता तथा जातक प्रथम स्कन्ध अर्थात् गणित सिद्धान्त पर ही निर्भर करता है इसलिये इस विभाग की ही मुख्यता है। भास्कराचार्य ने अपनी सिद्धान्तशिरोमणि में सिद्धान्त विभाग की प्रशंसा में कहा है कि जातक और संहिता को जानने वाले ज्योतिषी अगर सिद्धान्त ज्योतिष को नहीं जाने तो उनकी शोभा उसी प्रकार नहीं होती है जिस प्रकार कि भित्ति पर चित्रित राजा या काठ का बनाया हुआ सिंह का चित्र, बिना हाथी के सेना की, आम्र वृक्ष के बिना उद्यान की, कमल के बिना सरोवरकी और नवीन विवाह हुए विदेशस्थ पतिवाली स्त्रीकी शोभा नहीं होती है। त्रिस्कन्ध ज्योतिष के जानकार प्राचीन काल में वराहमिहिर थे जिनका तीनों विभागों पर लिखे हुए ग्रंथ हैं। आर्यभट तो केवल गणित सिद्धान्त के उपासक थे इसलिये इसी विषय में उनकी प्रौढ़ि थी। ये इसी विषय को सर्वमान्य समझते थे। आर्यभट के अनन्तर लल्ल, ब्रह्मगुप्त श्रीधराचार्य आदि विद्वान इसी सिद्धान्त विभाग के बड़े विद्वान थे। इसलिये विज्ञान के लिये वह स्वर्ण युग था। पीछे फलित ज्योतिष का ही विशेष रूप से प्रचार हुआ जिसके बड़े सहायक वराहमिहिर थे। म०म० द्विवेदी जी का मत है कि फलित ज्योतिष के विशेष प्रचार होने के कारण ही सिद्धान्त ज्योतिष भारत में दब गया। अवश्य ही भास्कराचार्य, कमलाकरभट्ट, नारायण, गणेश दैवज्ञ आदि कुछ विद्वान परवर्त्ती काल में अपवाद स्वरूप हुए हैं किन्तु अधिकांश ज्योतिषी अपने समय को फलित ज्योतिष के जानने तथा उसके व्यवहार में लगाते थे। फलित ज्योतिष विद्या अर्थकरी है इसलिये लोगों की दृष्टि इधर जाती है। सिद्धान्त ज्योतिष का उपयोग तो ज्ञानार्जन के लिये, आत्मसुख के लिये अथवा वेधक्रिया के लिये नलिकादियंत्रों से ग्रहों को देखने में तथा उनकी गति स्थिर करने में था। आर्यभट ने जब २३ वर्ष की अवस्था में इस ग्रन्थ को लिखा है तो ऐसा अनुमान करना कि वे इसके पूर्व वेध करके ग्रहों का मान देखे होंगे, विश्वास नहीं होता। हाँ, पीछे उन्होंने वेध किया ऐसा परवर्त्ती विद्वान उनके बारे में कहते हैं। कुछ विद्वानों ने ऐसा कहा है कि उन्होंने नलिकादि यंत्रो से ग्रहों को देखकर स्फुटता की है। भास्कराचार्य ने गणिताध्याय में भगण की उपपत्ति करने में यह अच्छी तरह से बतलाया है कि वेध करने की युक्ति क्या है, कैसे बेध किया जाता है। इधर नवीन काल में उनीनवीं शतक में चन्द्रशेखर सामन्त ने उड़ीसा प्रदेश में वेध करके सिद्धान्त दर्पण नामक ग्रंथ की रचना की।

सिद्धान्त ज्योतिष का तीसरा उपयोग विद्यालयों में छात्रों को पढ़ाना, उन्हें सिद्धान्तज्ञ बनाना और पञ्चाङ्ग का निर्माण करना था। इस सिद्धान्त का एक उपयोग यह भी था कि सभा में बैठकर शास्त्रार्थ करना। जो व्यक्ति सिद्धान्त नहीं जानते हैं वे सभा में वादी के प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकते तथा लज्जित होकर उपहास के विषय होते हैं। इस दृष्टि से भी सिद्धान्त ज्योतिष की पठन-पाठन रीति इस देश में प्राचीन काल से चली आ रही है। वस्तुतः इस विद्या का प्रयोग वेध कार्य में होना चाहिये। इस ओर लोगों की दृष्टि अबतक वर्त्तमान काल में भी नहीं गई है।

आर्यभट ने इस गणित ज्योतिष का क्या उपयोग किया कहना कठिन है। उन्होंने इसे अभ्यर्चित ज्ञान कहा है इससे तो उन्होंने आत्मसुखार्थ ही इस शास्त्र में अपनी बुद्धि का

प्रयोग किया है, ऐसा मालूम पड़ता है। द्वितीय, उन्होंने इस विद्या को पढ़ाया भी था, इसका प्रमाण है। तृतीय, सभी के उपकार के लिये उन्होंने ग्रंथ निर्माण किया है।

आर्यभट को अपने समय में बहुत यश था। उनके अच्छे शिष्य भी हुए। अन्य लोगों ने भी उनका यशोगान किया। तथापि परवर्ती समय में उनका सुयश उस प्रकार का नहीं रहा, इसके कुछ कारण है। एक तो उनका सिद्ध किया हुआ पृथ्वी भ्रमण सिद्धान्त के प्रतिपादन से भी उनकी लोकप्रियता अल्प हो गई। दूसरी बात यह हुई कि ज्योतिष शास्त्र में दो ही मत विशेषरूप से प्रसिद्ध हैं एक ब्राह्म और दूसरा सौर। ब्रह्म सिद्धान्त को मूल मानकर जो सिद्धान्त या करण ग्रंथ प्रचलित हुए वे ब्राह्ममत के हुए तथा सूर्यसिद्धान्त के आधार पर जो ग्रंथ बने वे सौरमत के हुए। यद्यपि आर्यभट भी अपने ग्रंथ को ब्रह्म सिद्धान्त संमत कहते हैं तथापि उनका पक्ष आर्यभटीय अर्थात् आर्यभट सिद्धान्त के अनुकूल कहलाता है। अर्थात् इस मत में आर्यभट ही मुख्य हो गये और ब्रह्म पीछे पड़ गये। उनका मत आर्यमत हो गया।

ब्रह्मगुप्त के ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त से ब्रह्म मत विशेष जाग्रत हुआ उन्होंने ग्रंथादि में ही स्पष्ट रुप से लिखा है—

ब्रह्मोक्तं ग्रहगणितं महता कालेन यत् खिलीभूतम्।
अभिधीयते स्फुटं तज्जिष्णुसुतब्रह्मगुप्तेन ॥२॥

—ब्रा० स्फु० सि०, पृ० ९।

अर्थात् ब्रह्म से कहा हुआ ग्रह गणित बहुत काल के अनन्तर सदोष हो गया, जिष्णु का लड़का ब्रह्मगुप्त उसको स्पष्ट करके कहता है। अर्थात् ब्रह्मगुप्त का सिद्धान्त ब्रह्म सिद्धान्त के आधार पर स्पष्ट करके कहा गया है। पीछे ब्रह्मगुप्त के सिद्धान्त को ही मूल मानकर भास्कराचार्य ने शक १०७२ में सिद्धान्त शिरोमणि की रचना की और उन्होंने अपने ग्रंथ में ब्रह्मगुप्त की बड़ी प्रशंसा की और कहा—

"कृती जयति जिष्णुजो गणकचक्रचूड़ामणिः"

ब्रह्मगुप्त को गणक समूहों में चूड़ामणि कहा और एक स्थान में लिखा :—

"यदा पुनर्महता कालेन महदन्तरं भविष्यति तदा ब्रह्मगुप्तसमानधर्माणि महामतिमन्त उत्पत्स्यन्ते, ते तदुपलब्ध्यनुसारिणीं गतिमुररीकृत्य शास्त्राणि करिष्यन्ति।"

अर्थात् अयनांश के साधन में बहुत समय के बाद जब बहुत अन्तर पड़ेगा तो ब्रह्मगुप्त के ऐसे बुद्धिमान लोग जन्म ग्रहण करेंगे और वे शुद्ध शास्त्र का निर्माण करेंगे।

फिर भास्कराचार्य के सिद्धान्त शिरोमणि को आधार मानकर मुनीश्वर ने शाहजहां बादशाह के समय में सिद्धान्त सार्वभौम लिखा। इस प्रकार ब्राह्ममत बढ़ा।

सूर्य सिद्धान्त के मत को सर्वत्र प्रसिद्ध करने में मकरन्द सारिणी ने भी बहुत काम किया है। समस्त उत्तरीय भारत में मकरन्दीय पञ्चांग चलता है। मकरन्द ने स्पष्ट ही लिखा है :

श्रीसूर्यसिद्धान्तमतेन सम्यक्
विश्वोपकाराय गुरुप्रसादात्।
तिथ्यादिपत्रं वितनोति काश्या-
मानन्दकन्दो मकरन्दनामा ॥

—मकरन्दसारिणी, मंगल श्लोक

अर्थात् संसार के उपकार के लिये गुरू की कृपा और श्री सूर्यसिद्धान्त के मत से काशी में मकरन्द नामक गणक तिथ्यादिपत्र को बनाते हैं।

आर्यभट दक्षिण में विशेषकर माध्व सम्प्रदाय में समादृत हैं। वे अपने विचार में स्वतंत्र हैं अर्थात् उन्हें जो विषय ठीक मालूम पड़ा है उसके कहने में कोई संकोच नहीं किया है। अन्य आचार्यों के मत से एक हजार महायुग का ब्रह्मा का एक दिन होता है। सत्युग, त्रेता, द्वापर, कलियुग चारों मिलाकर महायुग कहलाता है। किन्तु आर्यभट के मत से १००८ महायुग का ब्रह्मा का एक दिन होता है। अन्य आचार्यों के मत से कलियुग के प्रमाण से द्विगुण द्वापर, त्रिगुण त्रेता और चतुर्गुण सत्ययुग का प्रमाण होता है। किन्तु आर्यभट के मत से चारों युग बराबर अवधि के होते हैं। अन्य आचार्यों के मत से ७१ महायुगों के एक मन्वन्तर होता है किन्तु आर्यभट के मत से ७२ महायुग का एक मन्वन्तर होता है। अन्य आचार्यों के मत से दो मन्वन्तरों के बीच में सत्युग प्रमाण एक-एक संधिकाल होता है। आर्यभट में संधिकाल नहीं है। ये सब बातें विलक्षण हैं और उनके स्वातन्त्र्य सूचक हैं।

ब्रह्मगुप्त ने अपने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त में आर्यभट के इन मन्तव्यों का खण्डन करके आर्यभट को दोषी कहा है। ब्रह्मगुप्त के अनन्तर बटेश्वर नामक ज्योतिष के एक ग्रंथकार हुए है। उन्होंने आर्यभट के मत का समर्थन तथा ब्रह्मगुप्त के विचार का खण्डन किया है। कौन विचार, कौन मत ठीक है इस विवेक में तो यही बात आती है कि जिस मत से दृग्गणितैक्य हो वही मत ज्योतिष शास्त्र में मान्य है। हाँ, यदि ऋषि-मुनि के वाक्य का आदर ही प्रामाण्य हो तो उस स्थिति में स्मृति-विरुद्ध बात अमान्य होगी किन्तु ज्योतिष तो प्रत्यक्ष शास्त्र है। इसमें जो युक्तिसंगत हो, जिससे प्रत्यक्षता हो वही मान्य है।

गुण ऐसा विषय है कि एक न एक दिन अवसर पाकर वह स्वयं प्रस्फुटित हो जाता है। भारत में अंग्रेजों के राज्य स्थापित होने तथा अंग्रेजी शिक्षा प्रचलित होने पर स्कूली लड़कों को भूगोल में यह पढ़ाये जाने लगा कि वह पृथ्वी जिसे हमलोग अचला कहते हैं, यथार्थ में चलती है और उदय-अस्त करनेवाले सूर्य स्थिर हैं तब लोगों के स्मरण में यह बात आयी कि आज से करीब १५०० वर्ष पहले आर्यभट नाम के एक भारतीय ज्योतिषी ने पटने में लिखा था कि पृथ्वी चलती है और तब से आर्यभट का नाम विख्यात हो गया।

इसी प्रकार श्रीधराचार्य ने वर्ग समीकरण में एक रीति दी है जिसकी चर्चा भास्कराचार्य ने अपने बीजगणित में की है। अंग्रेजी बीजगणित के भारतीय लेखकों ने श्रीधर की इस रीति को अपने-अपने बीजगणित में बड़े आदर से रखा है। इसलिये श्रीधराचार्य का नाम बहुत फैल गया। चूंकि उन पुस्तकों में ये विद्यायें थीं इसलिये एक दिन इनके यश फैले। इस तरह की विशेष बातें उनलोगों के ग्रन्थ में बहुत है किन्तु वे भी अब क्रमशः जैसे-जैसे अवसर आवेगा प्रकाश में आ जायगी। म. म. सुधाकर द्विवेदीजी, विभूतिभूषण दत्त और अवधेश नारायण सिंह का गणित का इतिहास यह दिखाते हैं कि हमलोगों के पूर्वजों ने गणित में कितनी उन्नति की थी।

संदेह

कुछ लोग यह देखकर कि जिस प्रकार यवन लोग अक्षरों के द्वारा अंकों का प्रकाशन करते थे उसी प्रकार आर्यभट ने भी अक्षरों से अंकों का प्रकाशन कर यवनों का अनुकरण किया है ऐसा कहते हैं। दूसरी बात, बहुत कठिन गणितों को बिना उपपत्ति का कहा है। इसलिये

इन गणितों को भी वे दूसरों से लेकर केवल रीतिमात्र लिख दिया है, इस प्रकार का आक्षप आर्यभट पर लाते हैं। इसके उत्तर में यह निवेदन है कि अक्षरों के द्वारा अंकों को समझने की रीति सर्वप्रथम जैमिनीय सूत्र में देखी जाती है। और मान लिया जाय कि अंकों को अक्षरों के द्वारा प्रकाशन करना यवनों का अनुकरण है तो फिर स्वरों के द्वारा वर्ग अवर्ग वाला अष्टादश स्थान के अंकों को जानना तो आर्यभट की ही स्वतन्त्र बुद्धि है। क्योंकि स्वर के द्वारा यवनों के यहाँ स्थानाङ्कों का न तो ज्ञान था और न उतने स्थान उनके यहाँ प्रचलित थे। युरोप में तो १५वीं शताब्दी तक दशलक्ष तक के स्थान का ही ज्ञान था।

जिन विशिष्ट गणित ज्ञान के बारे में यह कहा जाता है कि आर्यभट ने उन्हें दूसरों से लिये होंगे उस विषय में तो वे स्वयं कहते हैं कि उन्होंने ब्रह्मसिद्धान्त से लिया। अगर यह संशय किया जाय कि वे यवनों से ज्ञान प्राप्त किये तो यह असम्भव है क्योंकि आर्यभट प्रतिपादित अनेक गणित का ज्ञान युरोप में १५वीं शताब्दी तक नहीं हुआ था। इसलिये यह आक्षेप युक्तियुक्त नहीं है। यदि यवनों से किसी ने इस ज्ञान का लाभ किया तो इसकी सम्भावना विशेषकर वराहमिहिर में थी जिन्हें यवनों से विशेष सम्पर्क हुआ और जो यवनों के प्रशंसक हैं। इसलिये यह आक्षेप ठीक नहीं है। अगर इन विशिष्ट ज्ञान को आर्यभट अन्यथा प्राप्त करते तो आर्यभट का छिद्रान्वेषी ब्रह्मगुप्त उनके दोषों की गणना में इस दोष को भी अवश्य कहते किन्तु वे ऐसा कहीं नहीं कहते हैं। इस सम्बन्ध में पहले भी कहा गया है।

भारतीय रीति डिडक्टिभ है अर्थात् हमलोग पहले से ही जानते रहते हैं कि कल्प में या महायुग में ग्रहों के भगण कितने होते हैं अर्थात् मेषादि बारहों राशिका भोग कितने बार वे करते हैं। तब इष्ट समय में अहर्गण अर्थात् कल्पादि या युगादि से कितने दिन अबतक बीत चुके हैं उसे जानकर त्रैराशिक करते हैं कि यदि कल्पसावन दिन में कल्प-ग्रह भगण तो अहर्गण में क्या, इस प्रकार वर्त्तमानकालिक ग्रह को जानते हैं। यह रीति युरोपवालों की नहीं है इसलिये भगण हमलोगों ने उनसे लिये यह प्रश्न ही नहीं उठता। वे लोग तो प्रतिदिन वेध करके ग्रह ज्ञान करते हैं। उनलोगों की रीति इन्डक्टिभ है। इसलिये आर्यभट ने जो कुछ भी कहा है उसका आधार ब्रह्म-सिद्धान्त तथा उनकी चमत्कृत बुद्धि है यही विश्वास होता है। भला आर्यभट में तो अक्षरांक सादृश्य-सा दोष भी देते हैं किन्तु ब्रह्मगुप्त ने जो इतने विस्तारपूर्वक गणित ज्योतिष को कहा है उन्होंने किससे सीखा। वे भी तो यही कहते हैं कि उनका भी आधार ब्रह्मसिद्धान्त ही है।

खलीफा अलमन सूर के दरबार में बगदाद में ब्रह्मगुप्त का कोई शिष्य बुलाया गया था जो ब्रह्मगुप्त के सिद्धान्त को अच्छी तरह जानता था। वहाँ उनके द्वारा अरबी में ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थों का अनुवाद कराया गया। फिर वहाँ से यह विद्या युरोप गयी। अगर युरोप में यह विद्या पहले ही से ज्ञात थी तो फिर अरबी से इस विद्या को लेने का क्या प्रयोजन था।

इतनी बात अवश्य सत्य है कि जिस प्रकार श्रीसूर्यनारायण का तेज सब देश, सब लोक पर एक प्रकार से प्रसारित होता है उसी देवता की ज्ञानरश्मि भी सब देश सब लोक में प्रसारित है। अतएव, सब ज्ञान चाहे गणित का हो या दर्शन का, साहित्य का हो या जिस किसी विषय का हो सब को प्राप्त करने का अधिकार है और सब प्राप्त करते हैं :—

जो ढ़ूंढ़ा तिन पाइयां गहरे पानी पैठि।
वे बपुरी क्या पाइयां रही किनारे बैठि ।।

कबीरदास का यह कथन बिल्कुल उपयुक्त है। सभी देश के लोग अपनी-अपनी आवश्यकता तथा सम्बन्ध के अनुसार गणित ज्योतिष में भी यत्न करते हैं या किये होंगे। यह कहना केवल पक्षपात है कि मेरे अनुकरण में अमुक ने ऐसा किया। यूरोप में एक सौ वर्ष तक यह झगड़ा चलता रहा कि जर्मन लेवनिज ने अंग्रेज न्यूटन साहब के तात्कालिक सिद्धान्त को देखकर तब लिखा है। पश्चात् यही निश्चय हुआ कि दोनों विद्वान् इस गणित के आविष्कार में स्वतंत्र थे। इसी प्रकार ईश्वर प्रदत्त बुद्धि से सभी देश के लोग अपने-अपने नये आविष्कार को कहते हैं। इसलिये अनुकरण का दोष लगाकर किसी के शुभ्र यश में कालिमा लगाना उचित नहीं।

सभी देश के विद्वान जिन्होंने अपने-अपने ग्रंथों में नयी बात को लिखी है जिन्होंने अपने विशिष्ट ज्ञान से संसार को उपकृत किया है वे धन्य हैं। हमलोगों की बुद्धि इस विषय की खोज में लगाना व्यर्थ है कि किसने किसकी विद्या चुरायी है। जन्मतः तो कोई पंडित होता नहीं। किसी किसी में पूर्वजन्म का विशिष्ट संस्कार रहता है। फिर भी विद्या पढ़कर ही लोग विद्वान होते हैं। विद्या पढ़ने का ध्येय यही है कि पूर्व विद्वानों के संचित ज्ञान को प्राप्त करना। अतएव, कोई भी दूसरों का ज्ञान न ले तो वह स्वयं ही विद्वान कैसे बनेगा। अतः प्रत्येक पठनशील व्यक्ति पूर्वजों के ज्ञान का ऋणी है चाहे वे पृथ्वी के जिस किसी कोण को अपने जन्म से अलंकृत किये हों।

अभ्यर्चितं ज्ञानम्

"आर्यभटस्त्विह निगदति कुसुमपुरेऽभ्यर्चितं ज्ञानम्" इस पद का अर्थ भटदीपिका टीका लिखने वाले परमेश्वर इस प्रकार लिखते हैं "कुसुमपुरे कुसुमपुराख्ये ऽस्मिन् देशे अभ्यर्चितं ज्ञानं कुसुमपुरनिवासिभिः पूजितं ग्रहगतिज्ञानसाधनभूतं तत्र आर्यभटो निगदति" अर्थात् ग्रहगतिसाधनभूत जो यह ज्ञान है जिसे कुसुमपुर के लोग बहुत ही पूजित समझते थे ऐसा कहा है।

प्रथम भास्कर जिन्होंने सबसे पहले आर्यभट की टीका लिखी है "कुसुमपुरेऽभ्यर्चितं ज्ञानम्" की व्याख्या इस प्रकार करते हैं "अयं किल स्वायंभुव सिद्धान्तः कुसुमपुरनिवासिभिः कृतिभिः पूजितः सत्स्वपि पौलिशरोमकवासिष्ठ सौर्येषु तेनाह कुसुमपुरेऽभ्यर्चितं ज्ञानमिति" अर्थात् पौलिशरोमक वशिष्ठ सूर्यसिद्धान्त के रहने पर भी कुसुमपुर के विद्वानों ने ब्रह्मसिद्धान्तमूलक इसी सिद्धान्त का बहुत आदर किया था।

भारतवर्ष में सर्वमान्य पुस्तक चारो वेद हैं। यह विवाद अवश्य विद्वानों में है कि वेद स्वयं प्रादुर्भूत है या किसी के द्वारा कहा गया है। मीमांसा शास्त्र स्वतः प्रमाण एवं न्याय शास्त्र परतः प्रमाण वेद शास्त्र को मानते हैं। इस पूजित वेद शास्त्र के छः अङ्गों में ज्योतिष एक अङ्ग है। अङ्गों में भी प्रधान अङ्ग नेत्रस्वरूप है। अतएव ज्योतिषशास्त्र वेदाङ्गत्वेन परमपूजित विद्या है किन्तु ग्रहगणित वेध सिद्ध है इसलिए दृग्गणितैक्य करने वाला ज्योतिष ग्रन्थ ही पूज्य मान्य है।

आर्यभट के समय में ज्योतिष के अन्य सिद्धान्त भी रहे होंगे किन्तु वे दृग्गणितैक्य करने वाले नहीं थे। दृग्गणितैक्य का अर्थ है कि शास्त्र के द्वारा गणित से ग्रह का मान लावें अगर प्रत्यक्ष दृष्टि द्वारा वह देखने में तदनुरूप प्रतीत हो तो वह दृग्गणितैक्य हुआ। चूंकि "प्रत्यक्षं ज्योतिषं शास्त्रम्" ज्योतिष शास्त्र प्रत्यक्ष है इसलिए जिस ग्रन्थ की विधि से गणित के द्वारा लाया हुआ ग्रह प्रत्यक्ष देखने में आवे वही मान्य है। ऐसा बोध होता

है कि आर्यभट के समय में जो भी ज्योतिष के ग्रन्थ रहे हों उनके द्वारा लाये हुए ग्रहादि प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं होते थे। तभी तो वराहमिहिर ने पञ्चसिद्धान्तिका लिखकर पांच आचार्यों के मत का विवेचन किया था। ऐसी ही स्थिति में ब्रह्मसिद्धान्त को मूल मानकर अपनी बुद्धि से उसमें संस्कार देकर आर्यभट ने जो आर्यभटीय लिखा तदनुसार बने ग्रह ठीक प्रत्यक्ष होने लगे इसलिए इनका ग्रन्थ पटने के विद्वानों के द्वारा मान्य हो गया। आर्यभटीय को मान्य होने में दो कारण है। एक यह कि यह समूलक बह्म सिद्धान्त के आधार पर है इसलिए मान्य है। दूसरी मान्यता इसलिए है कि इसके द्वारा बनाये हुए ग्रह ठीक मिलते हैं इसलिए यह ग्रन्थ कुसुमपुर में मान्य हो गया। फलतः २३ वर्ष के एक नवयुवक ने उच्चकोटि के विद्वानों में अपना स्थान पाया।

ज्योतिषशास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों में ग्रहण का साधन भी एक विषय है। ग्रहण बनाने का क्या प्रयोजन है इस विषय में भास्कराचार्य ने यही कहा है—

"बहु फलं जपदानहुतादिके स्मृतिपुराणविदः प्रवदन्ति हि।
सदुपयोगि जने सचमत्कृति ग्रहणमिन्द्विनयोः कथयाम्यतः ॥

अर्थात् ग्रहण काल में जप, दान, होम आदि करने से बहुत फल मिलता है ऐसा धर्मशास्त्रकारों ने कहा है। इसका प्रयोजन भी बहुत है और लोगों में एक चमत्कार भी उत्पन्न करता है इसलिये चन्द्र सूर्य का ग्रहण कहा जाता है।

ज्योतिष के एक बड़े आचार्य कमलाकरभट्ट ने ग्रहण का प्रयोजन यही लिखा है।

"भूमेर्दूरभवं दिव्यं ज्ञानं चार्केन्दुसंभवम्।
भविष्यं पूर्वमुक्तं चेच्चमत्कृतिकरं नृणाम्।

—सि० त० वि० पे० ३३६ श्लोक २८०

अर्थात् पृथिवी से बहुत दूर में सूर्य चन्द्रमा से उत्पन्न आकाशीय भविष्यज्ञान (ग्रहणसमय) पहले ही कहा जाय तो इससे लोगों में बड़ा चमत्कार उत्पन्न होता है।

ऐसे जो चमत्कार कारक ग्रहण पहले बनाए जाते थे वे विलकुल ठीक नहीं होते थे क्योंकि वैज्ञानिक रीति से युक्तिमूलक रीति से ग्रहण नहीं बनाये जाते थे और न ग्रहण का वास्तविक कारण ही मालूम था। यह तो सर्वप्रथम आर्यभट ही हैं जिन्होंने अपने ग्रन्थ में ग्रहण का ठीक कारण बतलाया तथा उसके साधन की विधि भी लिखी। इसी कारण आर्यभट इतने शीघ्र पटने के लोगों के लिए प्रिय हो गये। अतएव वहां के लोग इनके ज्ञान को अभ्यर्चित ज्ञान कहने लगे।

आर्यभटीय बहुत छोटा ग्रन्थ है थोड़े शब्दों में ज्यादे अर्थ भरे हुए हैं, जैसे गागर में सागर भरा हो। यह विषय कुछ उदाहरण देकर स्पष्ट किया जाता है। महायुग की चर्चा करते हुए गीतिका पाद के तृतीय श्लोक मे कहते हैं "गुरू दिवसाच्च भारतात्पूर्वम्"। परमेश्वर इसकी टीका करते हैं "भारता युधिष्ठिरादयः तैरूपलक्षितो गुरूदिवसो भारत गुरू दिवसः। राज्यचरतां युधिष्ठिरादीनामन्त्यो गुरू दिवसो द्वापरावसानक इत्यर्थः। तस्मिन् दिने युधिष्ठिरादयो राज्यमुत्सृज्य महाप्रस्थानंगता इति प्रसिद्धिः। तस्माद्गुरू दिवसात्पूर्वं कल्पादेरारभ्य गता मन्वादय ह्युक्ताः।"

अर्थात् भारत का युधिष्ठिरादि का अन्त गुरू दिवस में हुआ था अर्थात् द्वापरान्त बृहस्पति वार को हुआ था। उसके पूर्व के समय की यह गणना है। अर्थात् थोड़े ही शब्दों में कितने अर्थ ग्रथित हैं। शब्द है "गरू दिवसात् भारतात्पूर्वम्" अर्थ हुआ कि गुरू दिवस में भारत का अन्त हुआ अर्थात् द्वापरान्त हुआ उसके पूर्व की यह मन्वादि गणना कल्पादि से हुई। इसी प्रकार 'भवांशेऽर्कः' यह शब्द उसी गीतिका पाद में है जिसका अर्थ है कि भ नक्षत्रों की कक्षा का जो व अंश अर्थात् साठवाँ भाग वह अर्क सूर्य की कक्षा होती है। दूसरे आचार्य ने लिखा है 'अर्को भषष्ट्यंशः' नक्षत्र कक्षा का साठवाँ हिस्सा सूर्य कक्षा है।

स्थलजलमध्याल्लङ्का भूकक्ष्याया भवेच्चतुर्भागे ।
उज्जयिनी लङ्कायास्तच्चतुरंशे समोत्तरतः ।।

—आ० भ० पृ० ८५, श्लोक २४

स्थल अर्थात् मेरू जल बड़वानल इन दोनों स्थानों से पृथ्वी कक्षा के चतुर्थ भाग में अर्थात् ९० अंश पर लंका है तथा लंका के ठीक उत्तर दिशा में अर्थात् याम्योत्तर रेखा में ९० अंश के चतुर्थांश अर्थात् २२°/३०′ पर उज्जयिनी अवन्ती है। मेरू से ९० अंश पर होने के कारण तथा पूर्वापर याम्योत्तर रेखा के संपात विन्दु में निरक्ष देश में लंका होने के कारण लंका की प्रसिद्धि तो समुचित ही है किन्तु लंका के सदृश ही पृथ्वी पर प्रधान स्थान एक उज्जैन भी था जिसकी सूचना आर्यभट हमलोगों को देते हैं क्योंकि पृथ्वी पर अक्षांश वाले स्थानों में उन्होंने उज्जयिनी की ही चर्चा की है। जैसे लंका रावण की राजधानी थी उसी प्रकार विक्रमादित्य राजाओं का भी स्थान उज्जैन था। यह भी स्थान स्थिर याम्योत्तर वृत्त के धरातल में है तथा एक समय में लंका ज्योतिष गणना का प्रथम स्थान रही हो तो उज्जैन भी बहुत समय तक ज्योतिष गणना का प्रधान स्थान रह चुका है। इसलिये आर्यभट उज्जयिनी की चर्चा कर इस नगर का भी प्राधान्य स्थापित किये हैं।

मूलफलं सफलं कालमूलगुणमर्धमूलकृतियुक्तम् ।
मूलं मूलार्धोनं कालहृतं स्यात् स्वमूलफलम् ।।

—आ० भ०, पृ० ४८, श्लोक २५

व्याज सम्बन्धी एक प्रश्न का यह उत्तर सूत्ररूप में है। यहाँ यह जानते हैं कि कितने रुपये सूद पर दिए गये परन्तु सूद की व्यवस्था नहीं जानते केवल कितने समय तक ऋण रहा सो जानते हैं तथा इष्ट समय में जो सूद मिला उससे युत प्रथम सूद अर्थात् मिश्रधन जानते हैं तो सूद अर्थात् दिए हुए धन का सूद बताने की विधि है।

यहाँ मूलफल माने मूलधन का व्याज उसमें व्याज का व्याज जोड़कर मिश्रधन है तो उसको दिये हुए काल से तथा मूलधन से गुणा करें, मूलधन के आधे का वर्ग उसमें जोड़ द, उसका मूल लें, मूल का आधा उसमें घटा दें फिर काल से भाग दें तो मूलधन का व्याज मिलता है।

जैसे कल्पना किया कि मूलधन एक सौ रुपये है तो एकमास में इसका जो सूद होगा उस सूद का छै महीने में जो व्याज हो वह मिश्रधन १६ रुपए हैं तब उपर्युक्त

विधि से सोलह को छै से तथा सौ से गुणा कर दिया=९६०० इसमें मूलधन के आधे का वर्ग ५०²=२५०० जोड़ दिया=१२१०० इसका मूल लिया तो ११० हुआ उसमें मूलधनार्ध ५० घटा दिया तो ६० बचा इसको काल छै से भाग दिया तो १० यह मूलधन का व्याज मिला।

बिना वर्ग समीकरण के ज्ञान का इस प्रश्न का उत्तर नहीं हो सकता है।

आर्यभट का स्वातन्त्र्य

ब्रह्मगुप्त ने आर्यभट के सम्बन्ध में बहुत से दोष दिए हैं उनमें एक दोष यह है कि युग मन्वन्तर, कल्प जैसे शास्त्र में है ऐसा आर्यभट ने नहीं कहा है इसलिये इनका ग्रन्थ स्मृतिवाह्य है।

न समा मनुयुगकल्पाः कल्पादिगतं कृतादियातं च।

स्मृत्युक्तैरार्यभटो नातो जानाति मध्यगतिम्॥

ब्रा० स्पु० सि०, पृ० १५०, श्लोक १०

शास्त्रों में स्वतन्त्र शास्त्र वास्तव में केवल ज्योतिष ही है जो युक्ति को मानता है प्रमाण को नहीं। 'स्वार्भानुर्हि आसुरः तमसा सूर्यं विव्याध' राहु नामक राक्षस अपने अन्धकारों से सूर्य को छाद दिया ऐसा वेदवाक्य है। फिर भी आर्यभट कहते है 'छादयति शशी सूर्यं शशिनं च भूछाया' सूर्य को चन्द्रमा तथा चन्द्रमा को पृथ्वी छाया छाद लेती है। पुराण में लिखा है पृथ्वी दर्पण के पेट की तरह समान है।

"आदर्शोदरसन्निभा भगवती विश्वम्भरा कीर्त्यते" किन्तु आर्यभट कहते हैं :—

यद्वत् कदम्ब पुष्प ग्रन्थिः प्रचितः स मन्ततः कुसुमैः।

तद्वद्धि सर्वसत्वैर्जलजैः स्थलजैश्च भूगोलः॥

—आ० भ०, पृ० ८२, श्लोक ७

अर्थात् कदम्ब पुष्प के ऐसा पृथ्वी गोल है। यहाँ आर्यभट ने पुराण के वाक्य की परवाह नहीं की।

पीछे आने वाले एक बड़े ज्योतिषी कमलाकरभट्ट ने अपने सिद्धान्ततत्त्वविवेक में कहा :—

"तद्धि व्यासोदितं चापि दुष्टं ज्ञेयं विजानता।

नान्यन्मुनीन्द्रोक्तमपीह यस्मात्प्रत्यक्षसिद्धौ न हि वाक् प्रमाणम्")

—सि० त० पृ० ९७ श्लोक १३४

अर्थात् व्यास मुनि की भी बात हो तथापि वह मान्य नहीं है। जहाँ प्रत्यक्षता है वहाँ वाक्प्रमाण क्या होगा अर्थात् ज्योतिष में युक्तियुक्त विषय ही मान्य है। आर्यभट ने ग्रहण का वैज्ञानिक कारण दिया और पृथ्वी की गोलाई का प्रमाण दिया। इसलिये किसी ने आर्यभट में यह दोषारोपण नहीं किया है कि उसने शास्त्र विरुद्ध कहा है इसलिये मान्य नहीं है। हाँ पृथ्वी चलन बात लेकर कुछ गणकों ने उनको दोष दिया है चूँकि ज्योतिषियों में अब तक भी यही विश्वास है और तदनुसार गणना भी कर रहे है कि पृथ्वी स्थिरा है और सूर्यनारायण ही चलते हैं। किन्तु ग्रहण और पृथ्वी के गोलत्व में किसी ने दोष नहीं

दिया। आर्यभट के अनन्तर सब ज्योतिषी इस सिद्धान्त पर अटल हो गये कि सूर्य के ग्रहण में चन्द्रमा और चन्द्र के ग्रहण में पृथ्वी की छाया कारण होती है। पृथ्वी चलन को आर्यभट विरोधी किसी ने स्वीकार नहीं किया इसलिये इस स्वातन्त्र्य का दोष दिया।

कहा जाता है कि यूरप देश में पहले लोगों का यही विश्वास था कि सूर्य चलते हैं पृथ्वी स्थिरा है किन्तु इटली देश के विख्यात ज्योतिषी गालीलियों ने पृथ्वी को चला कहा इस कारण उन्हें जेल यातना दी गई। इस अर्थ में आर्यभट भाग्यवान् थे जिन्हें कोई शारीरिक क्लेश अपने स्वातन्त्र्य विचार प्रकाशित करने के कारण नहीं दिया गया। ब्रह्मगुप्त जिस कारण से आर्यभट के कथन को स्मृतिवाह्य कहते हैं यह बात विचारणीय है कि किस युक्ति के द्वारा आर्यभट ने युगमन्वन्तर और कल्प के मान में परिवर्त्तन किया है। महायुग का वर्ष प्रमाण यदि एक ही हो केवल चारो युगों के वर्षमान में भिन्नता हो तथा ७१ महायुगों के स्थान में ७२ महायुग का ग्रहण है किन्तु सन्धि मान नहीं कहा है इस प्रकार यदि कल्प सौर वर्ष या कल्पसावन दिन में विशेष अन्तर न हो तो यह सत्य भी हो सकता है तथापि आर्यभट की युक्ति अपेक्षित है कि उन्होंने ये सब स्वतन्त्र मान क्यों कहा है।

विचार में आर्यभट स्वतन्त्र हैं और स्वतन्त्र ही नहीं बहुत अर्थ में युक्तियुक्त मान्य हैं यह कहने की आवश्यकता नहीं हैं। विशेष संभावना यही की जाती है कि आर्यभट अपने मान के अनुसार गणना करके ग्रहादिओं का साधन किया और वे दृक् प्रत्यय में आये इसलिये इन्होंने अपने प्रमाण को ठीक समझा।

यद्यपि आर्यभट ने अपने ग्रंथ को स्पष्ट शब्द में ब्राह्म कहा "आर्यभटीयं नाम्ना पूर्वं स्वायम्भुवं सदा सद्यत्" तथापि इस सिद्धान्त की गणना ब्राह्म सिद्धान्त में न होकर आर्य-सिद्धान्त ही में हुई। ऐसा होने में दो मुख्य कारण प्रतीत होते हैं। प्रथम यह कि स्वयं आर्यभट ने इसका नाम ब्राह्म के सम्बन्ध का न रखकर अपने नाम से आर्यभटीय रखा ब्रह्मगुप्त की तरह ब्रह्मा के नाम पर नहीं रखा। ब्रह्मगुप्त ने अपने सिद्धान्त का नाम ब्राह्मस्फुत सिद्धान्त रखा है अर्थात ब्रह्म ही के सिद्धान्त को स्पष्ट किया गया है।

ऐसा आभास मिलता है कि इस आर्यभटीय में आधार रूप से ब्रह्मसिद्धान्त की बात हो किन्तु अधिकांश आर्यभट की बुद्धि की उपज ही है इसी कारण से उन्होंने इसको ब्राह्म न कहकर आर्यभटीय कहा है इसी नाम के कारण परवर्ती लोगों ने इसे आर्यसिद्धान्त कहने लगे।

गणेशदैवज्ञ ने शक १४४४ में ग्रहलाघव की रचना की है। उस समय में उन्होंने वेध करके तत्कालीन तीन मूल सिद्धान्तों की परीक्षा की है। वे हैं सौर, ब्राह्म और आर्य। कौन ग्रह किस सिद्धान्त के अनुसार दृकतुल्यता को प्राप्त करता है इस विषय को वे डिण्डिम घोष से प्रचलित करते हैं :—

"सौरोऽर्कोऽपि विधूच्चमङ्कुकलिकोनाज्वो गुरुस्त्वार्यजोऽ सृग्राहू च कजं ज्ञकेन्द्रकमथार्ये सेषुभागः शनिः। शौक्रं केन्द्रमजार्य मध्यगमितीमे यान्ति दृकतुल्यतां सिद्धैस्तैरिह पर्वधर्म नयसत्कार्यादिकं त्वादिशेत्" अर्थात् सूर्यसिद्धान्त के अनुसार सूर्य तथा चन्द्रोच्च ठीक होते हैं। चन्द्रमा में नौ कला घटा देने पर तथा वृहस्पति आर्य सिद्धान्त के अनुकूल ठीक पड़ता है, मंगल और राहु तथा बुधकेन्द्र ब्रह्मसिद्धान्त के अनुसार ठीक होते हैं। शनि में पांच अंश जोड देने

पर आर्य सिद्धान्त के अनुकूल सिद्ध होता है शुक्रकेन्द्र ब्राह्म तथा आर्य दोनों के मध्य में ठीक होते है अर्थात् शुक्र केन्द्र दोनों मत से ब्रह्मआर्य से लाकर दोनों का योगार्ध ठीक शुक्र केन्द्र होता है । इस प्रकार से ग्रह दृक्तुल्यता को प्राप्त करते हैं। दृक्तुल्य सिद्धग्रह पर से ही पर्व धर्म नीति सत्कार्य आदि करना चाहिये। अर्थात् दृक्तुल्य सिद्धग्रह ही वास्तव पारमार्थिक ग्रह हैं।

यहाँ पर गणेश दैवज्ञ ने आर्यमत से आर्य सिद्धान्त का ही ग्रहण किया है।

आर्यभटीय को ब्राह्मसिद्धान्त में गणना न होने का दूसरा प्रधान कारण यह है कि ये स्वतन्त्र मत के संस्थापक हैं। केवल शास्त्र पुराण के अनुसार ही चलने वाले नहीं हैं इस कारण से भी आर्यभटीय का आधार ब्रह्मसिद्धान्त होने पर भी लोगों ने इस सिद्धान्त को आर्य सिद्धान्त ही कहा है। उचित भी यही है।

आर्यभट ने आर्यभटीय शक ४२१ में लिखा और भास्कराचार्य ने शक १०७२ में गणिताध्याय लिखा। दोनों का अन्तर ६५५ वर्ष का है। यद्यपि आर्यभट के द्वारा व्यास परिधि के सम्बन्ध को ही भास्कराचार्य ने स्वीकृत किया है तथापि इस सम्बन्ध को उन्होंने दूसरे अचार्यों के कथन पर स्वीकार किया है, साक्षात् उन्होंने आर्यभटीय ग्रन्थ को नहीं देखा था इस विषय का ज्ञान इस आधार पर होता है कि उन्होंने अपने गोलाध्याय के वासनाभाष्य में एक जगह लिखा है :—

"यत पुनः क्षेत्रफलमूलेन क्षेत्रफलं गुणितं घनफलं
स्यात्तत् प्रायश्चतुर्वेदाचार्यः परमतमुपन्यस्तवान् ।"

—सिद्धान्त शिरोमणि, गोलाध्याय पृ० २६४, पं० १५

अर्थात् वृत्तक्षेत्रफल को क्षेत्रफल के मूल से गुण दें तो वृत्तक्षेत्र का घनफल हो चतुर्वेदाचार्य ने जो यह मत कहा है वह प्रायः दूसरे का मत है। ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त पर चतुर्वेदाचार्य की टीका है। चतुर्वेदाचार्य का दूसरा नाम पृथूदक स्वामी भी है। उसी टीका में भास्कराचार्य ने इस विचार को देखा होगा। वास्तव में आर्यभटीय में घनफल साधन की यही रीति है। यह स्थूल है। यदि भास्कराचार्य आर्यभटीय को देखे हुए होते तो इसको परमत नहीं कहते स्पष्ट लिखते कि यह आर्यभट के मत को चतुर्वेदाचार्य ने कहा है।

पृथ्वीचलन का भी खण्डन भास्कराचार्य ने अपने गोलाध्याय में किया है किन्तु वह खण्डन आर्यभट का नहीं किन्तु बौद्धों के भूभ्रमण का खण्डन किया है। बौद्ध लोग यह विचार रखते थे कि पृथ्वी नीचे की ओर जाती है उसका खण्डन भास्कराचार्य ने इस प्रकार से किया है :—

भूः खेऽधः खलु यातीति बुद्धिबौद्ध मुधा कथम् ।
यातायातं तु दृष्ट्वापि खे यत् क्षिप्तं गुरु क्षितिम् ।।

—सिद्धान्त शिरोमणि, गोलाध्याय, पृ० २५१, श्लोक ९

भास्कराचार्य बौद्धों से कहते हैं कि हे बौद्ध तुम्हें ऐसी वृथा बुद्धि कहाँ से आई कि पृथ्वी नीचे की ओर जाती है जबकि तुम ने देखा होगा कि आकाश में फेंकी हुई गुरुवस्तु शीघ्रता से गिरती है और लघुवस्तु तदपेक्षया विलम्ब से। पृथ्वी बहुत गुरु है। शर आदि जो ऊपर फेंके जाँय तो उसका पृथ्वी के साथ पुनः योग नहीं होगा इसलिये पृथ्वी नीचे की ओर नहीं जा रही है। और उन्होंने कहा—"समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे" पृथ्वी की चारो ओर तो आकाश ही है तो फिर यह कहाँ गिरे।

टीकाकार का ऐसा अनुमान है कि बौद्धों का यह विचार कि पृथ्वी नीचे की ओर जाती है आर्यभट की बुद्धि में पृथ्वी भ्रमण का सिद्धान्त उपस्थित किया यद्यपि उनकी युक्ति भूभ्रमण में दूसरी है तथा भ्रमण भी दूसरे प्रकार का है। भास्कराचार्य को ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ के द्वारा आर्यभट का भूभ्रमण मालूम था फिर भी खण्डन के लिये उन्होंने विधर्मी बौद्धों के ही मत का खण्डन किया। साक्षात् रूप से उन्होंने कहीं आर्यभट का खण्डन नहीं किया है यद्यपि ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ में अनेक स्थान में आर्यभट के मत का खण्डन देखा होगा। एक बात और विचारणीय यह है कि ब्रह्मगुप्त आर्यभट के बारे में लिखते हैं :—

जानात्येकमपि यतो नार्यभटो गणितकालगोलानाम् ।
न मया प्रोक्तानि ततः पृथक् पृथक् दूषणान्येषाम् ।।
आर्यभटदूषणानां संख्या वक्तुं न शक्यते यस्मात् ।
तस्मादयमुद्देशो बुद्धिमताऽन्यानि योज्यानि ।।

—ब्रा० स्फु० सि०, पृ० १६४, श्लोक—१३, १४

अर्थात् "गणितपाद, कालपाद, गोलपाद किसी को आर्यभट नहीं जानते इसलिये अलग-अलग उनके दोषों को मैंने नहीं कहा। आर्यभट के दोषों की संख्या नहीं हो सकती इसलिये जिन दोषों को मैंने कहा है उसी से बुद्धिमान् लोग अन्य दोषों को जाने।"

इसकी टीका करनेवाले चतुर्वेदाचार्य कहते है "राजाज्ञेयम्" यह राजाज्ञा है। जैसे राजा को जो मन आवे आज्ञा देता है उसी प्रकार की यह आज्ञा है इसमें कुछ तत्व नहीं हैं। द्विवेदीजी अपनी टीका में कहते है "इति सर्वमनर्गलवाक्यमाचार्यस्य' आचार्य ब्रह्मगुप्त का यह सब कथन अनर्गल बिना आधार का है। अच्छा, यहाँ अपने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त में तो आर्यभट के बारे में इस प्रकार कहा— जब वे तीस वर्ष वयस के थे किन्तु अपने परिणत वयस में जब वे ६९ वर्ष के हुए तब खण्ड-खाद्य करण ग्रन्थ लिखने बैठे तो प्रारंभ में ही कहते हैं :—

वक्ष्यामि खण्डखाद्यकमाचार्यार्यभटतुल्यम्
प्रायेणार्यभटेन व्यवहारः प्रतिदिनं यतोऽशक्यः
उद्वाहजातकादिषु तत्समफलं लघुतरोक्तिरतः ।।

अर्थात् "आचार्य आर्यभट के तुल्य इस खण्डखाद्य को कहूँगा क्योंकि आर्यटीय के द्वारा प्रतिदिन व्यवहार का कार्य होना कठिन है विवाह जातकादि में उसी के सदृश फल होगा इसलिए थोड़े में इसको मैं कहूँगा।" यहाँ आर्यभट को आचार्य की उपाधि दी और "उन्हीं के ग्रन्थ के अनुसार इस ग्रन्थ को लिखता हूँ जिससे इस ग्रन्थ से भी विवाहादि कर्म में काम करने पर वही फल होगा जो आर्यभट के ग्रन्थ के द्वारा कार्य करने पर होगा।"

इस प्रकार ब्रह्मगुप्त के विचार का परिवर्त्तन होने का अवश्य कारण होगा। एक स्पष्ट कारण तो यह है कि पहला ग्रन्थ ३० वर्ष वयस में लिखा जब वे बहुत जोश में थे। ६९ वर्ष की अवस्था में जब उन्होंने खूब पढ़ा-लिखा और गंभीर विचार के हुए तब ऐसा विचार उनका हुआ। दूसरा कारण यह हो सकता है कि इतने दिन में आर्यभट का यश बहुत फैल गया था। उन्होंने आर्यभट की जो निन्दा की उसकी निन्दा हुई होगी और यह भी देखा होगा कि आर्यभट के विरोधी करणग्रन्थ होने से उसका कोई आदर नहीं करेगा इस भय से इस करणग्रन्थ में उन्होंने आर्यभट की प्रशंसा की। वास्तव में जैसा उन्होंने कहा वैसा नहीं किया है। किया है अपने मनलायक ही किन्तु आर्यभट का आश्रय ले लिया है।

और जिस प्रकार ब्रह्मगुप्त ने अपने सिद्धान्त ग्रन्थ में आर्यभट की निन्दा की है उसी प्रकार आर्यभट के समर्थक वटेश्वराचार्य ने अपने ग्रन्थ में आर्यभट का समर्थन और ब्रह्मगुप्त का खण्डन किया है जैसे :—

खब्रह्मोक्त्या घटते न जिष्णुसुतोक्तं युगादि किञ्चिदपि ।
यस्मान्मृषैव तस्माद् ब्रह्मोक्तिमिति यच्चकार तदसच्च ।।

अर्थात् आकाशस्थ ब्रह्मा का कहा हुआ युगादि सब घटता है, ब्रह्मगुप्त का कहा हुआ नहीं घटता है इसलिये उन्होंने अपने कथन को ब्रह्मोक्त कहा है, वह मिथ्या है और असत् अमान्य भी है। इस प्रकार युक्त अयुक्त अनेक खण्डन ब्रह्मगुप्त का बटेश्वर ने अपने ग्रन्थ में किया है। SANS 133.5 ARY

बटेश्वर सिद्धान्त हाल ही में दिल्ली से प्रकाशित हुआ है उसमें 'द्वित्रा: शब्दा:' कह कर बाबू संपूर्णानन्दजी ने अपने विचार प्रकाशित किये हैं वह विचारणीय है। वे लिखते हैं "बटेश्वर सिद्धान्त में पूरा एक अध्याय, ब्रह्मगुप्त के खण्डन में दिया गया है। उसका शीर्षक ही है 'अन्य दूषणानि'। यह हो सकता है कि भू-भ्रमण आदि किन्हीं विषयों पर ग्रन्थकार को आर्यभट के मत में स्वारस्य हो और ब्रह्मगुप्त के मत में वैरस्य; परन्तु ब्रह्मगुप्त को मूर्ख सिद्ध करने का प्रयास अशोभन है। कहीं वह कहते हैं 'रविशशिनोरज्ञानात् तिथेर्न पंचाँगमपि वेत्ति'। कहीं उनके लिये 'बिनष्टमत्र' जैसे विशेषण का प्रयोग किया गया है। जब किसी विद्या की उन्नति का प्रवाह रुक जाता है तभी प्राचीन ग्रन्थों को सर्वोपरि प्राथमिकता दी जाती है। उनको देवों व ऋषिओं की कृतिमात्र कहा जाने लगता है और उनसे लघुमात्र भी भिन्न बात कहना अज्ञान का ही द्योतक नहीं प्रत्युत एक प्रकार से पाप समझा जाने लगता है। आज हमारे यहाँ ज्योतिष व वैद्यक में यही हो रहा है। उपज्ञा का मार्ग बन्द सा हो गया है। ब्रह्मगुप्त के सम्बध में बटेश्वर की यह आपत्ति है कि 'जिष्णुसुतो निजबुद्ध्य दिव्यशास्त्रमपहाय अन्यद् प्राह' अर्थात् ब्रह्मगुप्त ने देवादि रचित शास्त्रों को छोड़कर अपनी बुद्धि से उनसे भिन्न कहा है। जो प्रशंसा की बात होनी चाहिये थी वही दोष बन गई। कहीं-कहीं तो दोषदर्शन के नशे में ऐसा तर्क दे गये हैं जिस पर हंसी आती है। कम से कम मेरी बुद्धि में यह बात नहीं बैठती।

व्यक्ते भूव्यासार्धे सहस्रप्रसंमिते गणितसौक्ष्म्यात् ।
कर्त्तव्यं व्यासार्धे खनवमुनिरतस्त्वति गणित जाड्यमिदम् ।।

—बटेश्वर सिद्धान्त

"पृथ्वी का व्यासार्ध एक हजार मानना चाहिये क्योंकि इसमें गणित की सूक्ष्मता है ब्रह्मगुप्त ने जो ७९० स्वीकार किया है इसमें गणित जाड्य है। पृथ्वी का व्यास वस्तुस्थिति का अंग है। यह न तो ठीक-ठीक १००० है और न ७९० ही। ब्रह्मगुप्त ने गणना करने में भूल की तो वह भूल बतलानी चाहिए। सूक्ष्मता व जड़ता अप्रासंगिक है।"

आर्यभट की जयन्ती का समय

कुछ लोगों के मन में यह सन्देह उत्पन्न हो सकता है कि मेषसंक्रान्ति वर्षारंभ का दिन ही आर्यभट की जयन्ती का दिन क्यों माना गया।

आर्यभट ने स्वयं "गुरूभगणा राशिगुणास्त्वाश्वयुजाद्या गुरोरब्दा:" अर्थात् गुरूभगण को बारह से गुण दें तो अश्वयुक् आदि (साठ) गुरु के वर्ष होते हैं। इससे स्पष्ट है कि साठ वर्ष वाला एक चक्र गुरु वर्ष का है। अब आर्यभट अपने ग्रन्थ लिखने के समय के बारे में

IGNCA RAR
ACC. No.

कहते हैं "षष्ट्यब्दानां षष्टिर्यदा व्यतीतास्त्रयश्च युगपादाः। त्र्यधिका विंशतिरब्दास्तदेह मम जन्मनोऽतीताः" साठ वर्ष वाले मण्डल का जब साठ बीत चुका था अर्थात् ६०×६०= ३६०० वर्ष कलियुग के बीत चुके थे। यहाँ यह मण्डल गुरुवर्ष का है। गुरुवर्ष सौरवर्ष के साथ-ही-साथ चलता है। मेषसंक्रान्ति से आगे पीछे कुछ घटियों पर गुरुवर्ष का प्रारंभ होता है इसलिये सर्वविदित पुण्यप्रद मेषसंक्रान्ति के दिन को ही आर्यभट का प्रादुर्भाव माना गया है। प्रकाशिका टीकाकार ने भी वर्षादि दिन ही आर्यभट की उत्पत्ति माना है। आर्यभट के अन्यान्य ग्रन्थ के संबन्ध में भी लोगों की धारणा है कि उनका कोई करणग्रन्थ भी था। कोई इसी आर्यभटीय के दशगीतिका को एक ग्रन्थ तथा गणितपाद, कालपाद, गोलपाद, को दूसरा ग्रन्थ मानते हैं क्योंकि दोनों में मंगल श्लोक विभिन्न हैं। कदाचित अन्य ग्रन्थ भा आर्यभट के हों किन्तु उन सवों की सूचना अब तक प्राप्त नहीं हैं।

"आर्यभटस्त्विह" निगदति में जो तु शब्द है जिसका अर्थ फिर कहना होता है वह इसलिये है कि पहले तो ब्रह्मा ने ब्रह्मसिद्धान्त को कहा है। अब उसीको शुद्ध करके आर्यभट फिर कहते हैं क्योंकि आचार्य ने स्वयं कहा है "आर्यभटीयं नाम्वा प्रथमं स्वायंभुवं सदा सद्यत्" अर्थात् पहले जो शुद्ध ब्रह्मसिद्धान्त था उसीको आर्यभटीय के नाम से फिर कह रहा हूँ। इसलिये तु शब्द चरितार्थ होता है। कहीं पर तु शब्द पादपूर्ण में भी आता है।

बिहार रिसर्च सोसाइटी आर्यभट की विशेषताओं से इतनी आकृष्ट हुई कि उसके माननीय मन्त्री महोदय ने मुझे एक पत्र लिखा कि मैं आर्यभटीय पर एक सुन्दर टीका लिखकर सोसाइटी को दूँ जो उस पुस्तक को प्रकाशित करेगी। मैंने मन्त्री जी का अनुरोध मान तो लिया किन्तु जब इस काम को करने के लिये प्रस्तुत हुआ तो कठिनता सामने उपस्थित हुई। मैं इस ग्रन्थ के परिष्कार करने का योग्य अपने को नहीं समझता फिर भी यथामति पहले की टीकाओं को आधार मान कर जितना समझ में आया स्पष्टता की है। जो स्पष्टता न हो सकी है या जहाँ मैं चूक गया हूँ ऐसे स्थानों को विद्वान् लोग स्पष्ट कर देगें। मेरे गुरुदेव म. म. पं. सुधाकर द्विवेदी जी ने इस पर इसलिये टीका नहीं लिखी कि उन्हें कोई अच्छी पाण्डूलिपि आर्यभटीय की नहीं मिली। टीकाकारों के पाठ पर उनका विश्वास नहीं था।

उनको संसार छोड़े ५३ वर्ष हो गये। अब तक न कोई पाण्डूलिपि आर्यभट की मिली और न किसी नवीन विद्वान् ने इस पर टीका लिखी। सोसाइटी के कर्तृपक्ष का आग्रह देख कर छपी हुई पुस्तक के पाठ ही को आधार मानकर नवीन रीति से मैंने व्याख्या की है तथा उपपत्ति भी दी है। सबलोगों की सुविधा के लिये हिन्दी व्याख्या भी अच्छी तरह से कर दी है।

मैं कह नहीं सकता कि सोसाइटी के कर्तृपक्ष को इस कार्य से संतोष होगा या नहीं। मुझ से जितना बन पड़ा मैंने यत्न किया है।

निवेदक

१३-४-१९६६ **श्रीबलदेवमिश्र**

श्रीगणेशाय नमः

प्रणिपत्यैकमनेकं कं सत्यां देवतां परं ब्रह्म ।
आर्यभटस्त्रीणि गदति गणितं कालक्रियां गोलम् ॥१॥

यं स्मरामि सदा शंभुं चित्तसन्तोषदायकम् ।
नत्वा तं विवृतिं कुर्वे सदार्यभटनिर्मितेः ॥१॥

श्रीधराख्यो वासुदेवः सोहनीति विचक्षणः ॥
आनन्दं लभतां येन तथा यत्नो विधीयते ॥२॥

कं ब्रह्माणं कथंभूतं एकं कारणरूपेण, अनेकं क्रियारूपेण, देव एव देवता तां सत्यां देवतां सर्वथा पूजनीयां, परं ब्रह्म जगतः कारणभूतत्वात् एवं विशिष्टं देवं प्रणिपत्य प्रणिपातपूर्वकं नमस्कृत्य गणितं, कालक्रियां, गोलं इति त्रीणि ज्योतिषसिद्धान्तस्य विभागात्मकानि आर्यभटः एतन्नामा ग्रन्थकारः गदति कथयति ।

Indira Gandhi Nati

अस्य ग्रन्थस्य मूलं ब्रह्मसिद्धान्तः अतएव प्रथमं ब्रह्माणमेव स्तौति । उक्तं च ग्रन्थान्ते ग्रन्थकारेण "आर्यभटीयं नाम्ना पूर्वं स्वायम्भुवं सदा सद्यत् ।"

भा०

ब्रह्मा जो कारण रूप से एक तथा कार्यरूप से अनेक हैं जो सत्य देवता हैं जो पर ब्रह्म हैं संसार के मूल कारण हैं उनको नमस्कार कर आर्यभट गणित, कालक्रिया, गोल तीनों वस्तु रूप (ज्योतिष सिद्धान्त) को कहते हैं अर्थात् आर्यभटीय नामक ग्रन्थ को तीन भागों में कहते हैं, पहला गणित दूसरा कालक्रिया तीसरा गोल । ये ही तीन अध्याय इस ग्रन्थ के हैं । ब्रह्मा की स्तुति से यह भी सूचित होता है कि ब्रह्मा प्रतिपादित ज्योतिष सिद्धान्त ब्रह्मसिद्धान्त ही इस ग्रन्थका आधार है ।

वर्गाक्षराणि वर्गेऽवर्गेऽवर्गाक्षराणि कात्ङ्मौ यः ।
खद्विनवके स्वरा नव वर्गेऽवर्गे नवान्त्यवर्गे वा ॥२॥

ककारादीनि मान्तानि वर्गाक्षराणि वर्गे वर्गस्थाने ज्ञेयानि । कखगघङ कवर्गः, चछजझञ चवर्गः, टठडढण टवर्गः, तथदधन तवर्गः, पफबभम पवर्गः

एतानि वर्गाक्षराणि पञ्चविंशति संख्यकानि वर्गाङ्के एकशतायुतादिस्थाने ज्ञेयानि। अवर्गाक्षराणि यकारादीनि हान्तानि अवर्गे अवर्गस्थाने दश, सहस्र, लक्षादि स्थाने स्थाप्यानि। कात् संख्या वेद्या अर्थात् क इत्यनेन एकः, ख=२, ग=३ इत्यादि ङमौ ङकार मकारयोर्योगेन पञ्च पञ्चविंशतिसंख्ययोर्योगेन त्रिंशत्तुल्येन यः य वेद्यः। खद्विनवके शून्योपलक्षकाष्टादशस्थाने वर्गे अवर्गे च नव स्वराः स्थाप्याः अर्थात् क्+अ=क=१, क्+ई=कि=१००,क्+उ=कु=१००००. एवम् ३०=य,३०००=यि, ३०००००=यु। वा नवान्त्यवर्गे नवानां वर्गस्थानानामन्त्ये ऊर्ध्वगते वर्गस्थाननवके तथा नवानामवर्गस्थानानामन्त्ये ऊर्ध्वगते अवर्गस्थाननवके एते एव स्वराः प्रयुज्यन्ते। केनचिदनुस्वारादिविशेषेण संयुक्ताः प्रयोज्या इत्यर्थः

भा०

एक, शत, दसहजार आदि वर्गस्थान हैं इनके स्थान में क से लेकर म तक वर्गाक्षरों को स्थापन करना चाहिए। इसी प्रकार दस, हजार, लाख आदि अवर्गस्थान है इन स्थानों में य से लेकर ह तक का स्थापन करना चाहिये। क ककारादि से संख्या जाननी चाहिए। जैसे क=१, ख=२, ग=३, घ=४, ङ=५, च=६, छ=७, ज=८, झ=९, ञ=१०, ट=११, ठ=१२, ड=१३, ढ=१४, ण=१५, त=१६, थ=१७, द=१८, ध=१९, न=२०, प=२१, फ=२२, ब=२३, भ=२४, म=२५। ङ कार मकार पांच और पचीस के योग से य होता है अर्थात् य=३० इसी प्रकार र=४०, ल=५०, व=६०, श=७०, ष=८०, स=९०, ह=१००। नौ स्वर वर्गाक्षर तथा अवर्गाक्षर में मिलकर अठारह स्थान के प्रदर्शक होते हैं जैसेः—

क्+अ=क=१
क्+इ=कि=१००
क्+उ=कु=१००००
क्+ऋ=कृ=१००००००
क्+ऌ=क्लृ=१००००००००
क्+ए= के=१००००००००००
क्+ऐ= कै=१००००००००००००
क्+ओ=को=१००००००००००००००
क्+औ=कौ=१००००००००००००००००

एवं य्+अ= य=३०

य्+इ= यि=३०००

य्+उ=यु =३०००००

य्+ऋ=यृ=३००००००००

य्+ऌ=यॢ=३००००००००००

य्+ए=ये =३००००००००००००

य्+ऐ= यै =३००००००००००००००

य्+ओ=यो =३००००००००००००००००

य्+औ=यौ=३००००००००००००००००००

इसी प्रकार ख्+अ=ख=२

ख्+इ=खि=२००

ख्+उ=खु+२००००

एवं र्+अ=र=४०

र्+इ=रि =४०००

र्+उ=रु=४०००००

यहाँ ह्रस्व और दीर्घ स्वर में कोई भेद नहीं है यथा खि=२००, खी=२०० स्वर को प्रत्येक अक्षर से संयुक्त संयुक्ताक्षर में जाना जाता है जैसे, ख्यु=खु+यु।

युगरविभगणाः ख्युघृ शशि चयगियिङुशुछ्लृ कु ङिशिबुण्लृ ख्षृ ।
प्राक् शनि ढुङ्विघ्व गुरु ख्रिच्युभ कुज भद्लिझ्नुखृ भृगुबुधसौराः ॥३॥

युगो महायुगे चतुर्युगे रविभगणाः ख्युघृ = खुयुघृ,

खु=	२००००
यु=	३०००००
घृ=	४००००००
∴ ख्युघृ=	४३२००००

शशि शशिनश्चन्द्रस्य भगणाः चयगियिङु शु छ्लृ

च =	६
य =	३०
गि =	३००
यि =	३०००
ङु =	५००००
शु =	७०००००
छ्ृ =	७००००००
लृ =	५०००००००
	५७७५३३३६

कु भूमेः भगणाः ङि शि बु स्लृ खृषृ

ङि =	५००
शि =	७०००
बु =	२३००००
स्लृ =	१५०००००००
खृ =	२००००००
षृ =	८०००००००
	१५८२२३७५००

शनेः ढु ङ्िव घ्व भगणाः

ढ़ु =	१४००००
ङि =	५००
वि =	६०००
घ =	४
व =	६०
	१४६५६४

गुरुभगणाः खिच्युभ

खि =	२००
रि =	४०००
चु =	६००००
यु =	३०००००
भ =	२४
	३६४२२४

कुजस्य भद्लिभ्रुनुखृ भगणाः

भ =	२४
दि =	१८००
लि =	५०००
भ्रु =	६००००
नु =	२०००००
खृ =	२००००००
	२२६६८२४

चन्द्रोच्चं ज्रुष्खिध सुगुशिथृन भृगु जषबिखुछृ शेषार्काः ।
बुफिनच पातविलोमा बुधाह्न्यजार्कोदयाच्च लङ्कायाम् ॥४॥

चन्द्रोच्च ज्रुष्खिध

जु =	८००००
रू =	४०००००
षि =	८०००
खि =	२००
ध =	१६
	४८८२१६

बुधशीघ्रोच्चभगणाः सुगुशिथृन

सु =	६०००००
गु =	३००००
शि =	७०००
थृ =	१७००००००
न =	२०
	१७६३७०२०

भृगोश्शीघ्रोच्चभगणाः जषबिखुछृ

ज =	८
ष =	८०
बि =	२३००
खु =	२००००
छृ =	७००००००
	७०२२३८८

शेषाणां भौमगुरुमन्दानां शीघ्रोच्चभगणाः आर्काः सूर्यभगणतुल्या भवन्ति ।

चन्द्रपातभगणाः बुफिनच	बु=	२३००००
विलोमाः विलोमगतिकाः	फि=	२२००
पश्चिमगतिकाः भवन्ति ।	न=	२०
	च=	६
		२३२२२६

लंकायां बुधाहन्यजार्कोदयात् कृतयुगादौ बुधवासरे अर्कोदयात अजात् मेषादिमारभ्य भगणाः कथिताः ।

काहो मनवो ढ़ मनुयुग श्ख गतास्ते च मनुयुगछ्ना च ।
कल्पादेर्युगपादा ग च गुरुदिवसाच्च भारतात्पूर्वं ॥५॥

काहो मनवो ढ़ क कस्य ब्रह्मणः अहः अह्नि दिवसे मनवो ढ़ चतुर्दश भवन्ति । मनुयुगश्ख एकैकस्य मनोः काले युगानि चतुर्युगानि श्ख । श सप्ततिः ख द्वयं द्वासप्ततिरित्यर्थः । कल्पादेः गतास्ते मनवः च षट् । मनुयुगछ्ना च वर्त्तमानस्य सप्तमस्य मनोः अतीतानि चतुर्युगानि छ्ना । छ सप्त ना विंशतिः सप्तविंशतिरित्यर्थः । ह्रस्वदीर्घयोर्न विशेषः । अकार सदृश एव आकारः । युगपादाः गताः ग त्रयः सत्यत्रेताद्वापररूपाः । भारतात् द्वापरान्तात् यदा भारतयुद्धमभवत् गुरुदिवसात् पूर्वमेते गताः । एतेन द्वापरान्ते गुरुवार आसीदिति कथितम् । अर्थात् शुक्रवारतः कलियुगप्रारंभः ।

शशि राशयष्ठ चक्रं तेंऽशकला योजनानि यवञ गुणाः ।
प्राणेनैति कलां भूः खयुगांशे ग्रहजवो भवांशेऽर्कः ॥६॥

शशि शशिनः चक्रं भगणाः ठ द्वादशगुणिताः राशयः भवन्ति । ते राशयः यवञ गुणाः अंशकलायोजनानि भवन्ति । अर्थाद्राशयः य त्रिंशद्गुणाः तदा अंशाः भवन्ति ते अंशाः व षष्टिगुणास्तदा कलाः भवन्ति । ताः कलाः ञ दशगुणास्तदा योजनानि आकाशकक्षायोजनानि भवन्ति । भूः प्राणेन उच्छ्वासतुल्यकालेन कलां कलापरिमितं प्रदेशं एति गच्छति । एष पाठः ब्रह्मगुप्तस्वीकृतः । भटदीपिकाकार परमेश्वरकृतः पाठः भं इति तस्मिन् पाठे नक्षत्रमण्डलं प्राणेन कलाप्रदेशं गच्छतीत्यर्थः । खयुगांशे खस्य आकाशकक्ष्यायाः युगांशः युगचक्रांशः ग्रहजवः अर्थात स्वचक्रै विह्नता खकक्षा तस्य ग्रहस्य कक्षायोजनानि भवन्ति । परमेश्वरस्यायमर्थः

वस्तुतः आकाशकक्षा युगकुदिनैर्हृता ग्रहजवः योजनात्मकस्तुल्यो सर्वेषां ग्रहाणां भवति। भवांशेऽर्कः भ नक्षत्रकक्षायाः वांशे षष्ट्यंशे अर्कः सूर्योऽस्तीति।

नृषि योजनं ञिला भूव्यासोऽ र्केन्द्वोर्घ्रिना गिण क मेरोः।
भृगुगुरुबुधशनिभौमाश्शशिङञणनमांशकास्समार्कसमाः ॥७॥

नृषि योजनं नृ नरप्रमाणानां (नरहस्तानां) षि अष्टसहस्रं योजनं योजन प्रमाणं भवति। ञिला भूव्यासः ञि सहस्रं ला पञ्चाशत् पञ्चाशत् सहितं सहस्रं एतानि भुवः पृथिव्याः व्यासः। अर्केन्द्वोः घ्रिना गिण। घि = ४००, रि = ४०००, ना = १० अर्थात् ४४१० अर्कमण्डलस्य व्यासप्रमाणं। गि = ३००, ण = १५ अर्थात् ३१५ चन्द्रव्यासः, मेरोः व्यासप्रमाणं क = १ योजनं।

भृगुगुरुबुधशनिभौमाः शशि शशिनः ङ ञणनमांशकाः अर्थात् चन्द्रस्य पञ्चमांशः भृगुः दशमांशो गुरुः पञ्चदशांशो बुधः विंशांशः शनिः पञ्चविंशत्यंशो भौमः एतेषां विम्वानीति। समार्कसमाः। ते युगार्कभगणतुल्या भवन्ति।

भापक्रमो ग्रहांशाश्शशिविक्षेपोऽपमण्डलात् झार्धं।
शनिगुरुकुज खकगार्धं भृगुबुध खस्चाङ्गुलो घ हस्तो ना ॥८॥

भापक्रमो ग्रहांशा। भ = २४ अंशाःग्रहस्य सूर्यस्य अपक्रमः परमापक्रम इत्यर्थः। अपमण्डलात् क्रान्तिमण्डलात् शशिविक्षेपः चन्द्रपरमविक्षेपः झार्धं नवार्धं ४/३० अंशाः भवन्ति। शनिगुरूकुज खकगार्धं शनेः ख द्वयं गुरोः क एकं कुजस्य गार्धं त्रयाणामर्धं परमविक्षेपः। भृगुबुध ख भृगुबुधयोः विक्षेपः ख द्वयं अंशद्वयं। स्चाङ्गुलो। स नवतिः च षट् अर्थात्षण्णवत्यङ्गुलानि घ चत्वारः घ हस्तो चतुर्हस्तो ना पुरुषो भवति।

बुधभृगुकुजगुरूशनि नवरषहा गतांशकान्प्रथमपाताः।
सवितुरमीषाञ्च तथा द्वा ञखि सा हृदा ह्मय खिच्य मन्दोच्चं ॥९॥

बुधभृगुकुजगुरूशनि नवरषहा अर्थात् बुधस्य न विंशतिः भृगोः व षष्टिः कुजस्य र चत्वारिंशत् गुरोःष अशीतिः शनेः ह शतम्। गतांशकान्प्रथमपाताः उक्तानेतान् गतांशकान् मेषादितः प्रथमपाताः स्युः। सवितुः सूर्यस्य तथा अमीषां पूर्वोक्तानां ग्रहाणां द्वा ञखि सा हृदा ह्मय खिच्य मन्दोच्चं भवति। अर्थात् सूर्यस्य-मन्दोच्चं द्वा दा = १८ वा = ६० अर्थात् अष्टसप्ततिः। बुधस्य मन्दोच्चं ञखि ञ = १०, खि = २०० अर्थात् २१० भृगोः मन्दोच्चं सा नवतिभागाः।

कुजस्यमन्दोच्चं हृदा हा=१००, दा अष्टादश अर्थात् ११८ गुरोः मन्दोच्चं ह्लय ह=१००, ल=५०, य=३० अर्थात् १८० शनेः मन्दोच्चं खिच्य खि=२००, च=६, य=३० अर्थात् २३६।

झार्धानि मन्दवृत्तं शशिनश्छ गछघढ़छझ यथोक्तेभ्यः।
झ ग्ड ग्लझ्ल द्ड तथा शनिगुरुकुजभृगुबुधोच्चशीघ्रेभ्यः ॥१०॥

झार्धानि नवार्धानि तः सार्धचतुर्भि रपवर्त्तितं मन्दवृत्तं शशिनः मन्दवृत्तं छ सप्त, यथोक्तेभ्यः ग्रहेभ्यः ग छ घ ढ़ छ झ अर्थात् रवेः मन्दवृत्तं ग त्रीणि, बुधस्य छ सप्त, भृगोः घ चत्वारि, कुजस्य ढ़ चतुर्दश, गुरोः छ सप्त, शनेः झ नव।

शनिगुरुकुजभृगुबुधोच्चशीघ्रेभ्यः झ ग्ड ग्ल झ्ल द्ड भवन्ति अर्थात् शनेः झ नव, गुरोः ग त्रीणि, ड त्रयोदश षोडशेत्यर्थः। कुजस्य ग्ल ग त्रीणि, लपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशादित्यर्थः। भृगोः झ्ल झ नव, ल पञ्चाशत् एकोनषष्टिः, बुधस्य द्ड द अष्टादश ड त्रयोदश एकत्रिंशादित्यर्थः शीघ्रवृत्तानि भवन्ति। प्रथम तृतीय पदयोरिति चोक्तं भवति।

मन्दात् ङ खदजडा वक्रिणां द्वितीये पदे चतुर्थे च।
जा ण क्लछ्ल झ्नोच्चात् शीघ्रात् गियिङश कुवायुकक्ष्यान्त्या ॥११॥

वक्रिणां तेषमेव ग्रहाणां मन्दात् मन्दगतिवशात्, द्वितीये चतुर्थे च पदे ङ ख द ज डा मन्दवृत्तानि भवन्ति। बुधस्य ङ पञ्च, भृगोःख द्वे, कुजस्य द अष्टादश, गुरो जा अष्टौ, शनेः डा त्रयोदश। पूर्वोक्तानां शनिगुरुकुजभृगुबुधानां शीघ्रोच्चाद् वृत्तानि जादीनि शनेः जा अष्टौ, गुरोः ण पञ्चदश, कुजस्य क्ल क एकं ल पञ्चाशत् एकपञ्चाशादित्यर्थः, शुक्रस्य छल छ सप्त, ल पञ्चाशत् सप्तपञ्चाशादित्यर्थः, बुधस्य झ्न झ नव न विंशातिः एकोनत्रिंशत्।

कुवायोः अन्त्या कक्ष्या गियिङ श इति। गि शतत्रयं यि सहस्रत्रयं, ङ पञ्च, श सप्ततिः ३३७५ इति।

मखि भखि फखि धखि णखि ञखि ङखि हस्क स्वकि किस्व
श्घकि किघ्व।
घ्लकि किग्र हक्य धाहा स्त स्ग श्झ ङ्व ल्क प्त फछ
कलार्धज्याः ॥१२॥

कलार्धज्याः कलात्मिकायाः अर्धज्या इह उक्ताःसन्ति। प्रथमजीवा मखि म=२५, खि=२०० अर्थात् २२५, द्वितीयज्या भखि भ=२४, खि=२००

अर्थात् २२४, तृतीयज्या फखि फ=२२, खि=२०० अर्थात् २२२ एवं धखि २१६, सखि २१५ नखि २१०, कखि २०५ हस्फ, ह=१०० स ६०, फ=६ अर्थात् १६६।

स्वकि १६१ किसा १८३ शघकि १७४ किछ्व १६४ छलकि १५४ किम १४३ हक्य १३१ धाहा ११६ सस १०६ सग ६३ शक ७६ जव ६५ लक ५१ म ३७ फ २२ छ ७

भा०

सत्ययुग, द्वापर, त्रेता, कलियुग चारो मिलाकर युग (महायुग) कहलाता है। अब एक महायुग में सूर्यादिग्रहों के भगणादि को कहते हैं

एक युग में सूर्य भगण	४३२००००
चन्द्र भगण	५७७५३३३६
पृथ्वी भगण	१५८२२३७५००
शनि भगण	१४६५६४
गुरु भगण	३६४२२४
कुज भगण	२२६६८२४
चन्द्रोच्च भगण	४८८२१६
बुधशीघ्रोच्च भगण	१७६३७०२०
शुक्रशीघ्रोच्च भगण	७०२२३८८
चन्द्रपात भगण	२३२१२६

ब्रह्मा के एक दिन में १४ मनु होते हैं तथा एक मनु में ७२ महायुग होते हैं। वर्तमान ब्रह्मा के दिन में ६ मनु बीत गये हैं, सातवे मनु में २७ महायुग बीत गये हैं। अठाइसवें महायुग में सत्ययुग, त्रेता, द्वापर तीन युग बीत गये हैं। द्वापर के अन्त में कलियुग के प्रारंभ के पूर्व गुरुवार था अर्थतः शुक्रवार से कलि युग का प्रारंभ हुआ है।

चन्द्र भगण को बारह से गुणदेने पर राशि, राशि को ३० गुणदेने पर अंश, अंश को ६० गुण देने पर कला और कला को दश से गुण देने पर आकाश कक्षायोजन का प्रमाण होता है। अर्थात् ५७७५३३३६ × १२ × ३० × ६० × १० = १२४७४६२०५७६००० = आकाश कक्षायोजन हैं। पृथिवी, एक उछ्वासकाल में एक कला तुल्य चलती है। आकाशकक्षा को ग्रहभगण से भाग देने पर लब्धि उस ग्रह के कक्षा योजन तुल्य होती है। नक्षत्र कक्षा के साठवें हिस्से में सूर्य हैं। अर्थात् पूर्वरीति से साधित सूर्यकक्षा को साठ से गुण देने पर नक्षत्र कक्षा हो जायगी।

मनुष्य के हाथ का आठ हजार प्रमाण एक योजन होता है। एक हजार पचास १०५० योजन पृथिवी व्यास का प्रमाण है। सूर्य का व्यास योजन ४४१० तथा चन्द्रमा का व्यासयोजन ३१५ और मेरू का व्यास प्रमाण एक योजन है। शुक्र का बिम्बव्यास ६२ गुरू का ३१$\frac{१}{२}$ बुध का २१ शनि का १५$\frac{३}{४}$ और मंगल का १२$\frac{३}{४}$ योजन बिम्बव्यास होता है।

विषुवद्वृत्त से सूर्य उत्तर या दक्षिण जितने अंशों से हटे हुए रहते हैं उसे क्रान्त्यंश कहते हैं। सूर्य की परम क्रान्ति २४ अंश है। चन्द्रमा का परम शर साढ़े चार अंश है। शनि का परम शर दो अंश गुरु का एक अंश कुज का डेढ़ अंश, बुध, शुक्र का दो-दो अंश परम विक्षेप होता है। क्रान्तिमण्डल से चन्द्रादि ग्रह जितने उत्तर या दक्षिण रहते हैं उसको शर कहते हैं। मनुष्य का प्रमाण ९६ अङ्गुल या चार हाथ होता है फलतः २४ अङ्गुल का एक हाथ होता है। सूर्य जिस मण्डल में घूमते हैं उसको क्रान्तिमण्डल तथा चन्द्रादि ग्रह जिस वृत्त में घूमते हैं उसे विमण्डल कहते हैं। इन दोनों वृत्तों का योग पात कहलाता है। ग्रन्थ रचना के समय में मेषादि विन्दु से ये पात इतने अंश हटे हुए थे। बुध का २० अंश, शुक्र का ६० मंगल का ४० गुरु का ८० शनि का १०० अंश हटा हुआ था। इस पात की गति विलोम पश्चिमाभिमुख है। सूर्य का मन्दोच्च ७८ अंश, बुध का २१०, शुक्र का ९०, मंगल का ११८ गुरु का १८०, शनि का २३६ अंश है।

चन्द्रमा का मन्दपरिधिभाग ३१½ सूर्य का १३½ बुध का ३१½ शुक्र का १८ मंगल का ६३ गुरु का ३१½ शनि का ४०½ इतने अंश हैं। इसी प्रकार शनि का शीघ्र परिधि भाग ४०½, गुरु का ७२, मंगल का २३८½, शुक्र का २६५½, बुध का १३९½ अंश है। ये मन्द शीघ्र परिधि ओजान्त अर्थात् प्रथम पद तथा तृतीय पद के पठित हुए हैं। सम पदान्त अर्थात् द्वितीय चतुर्थ पद में कुछ भिन्न होते हैं जैसे मंगल की मन्दपरिधि ८१ अंश बुध की २२½ गुरु की ३६ शुक्र की ९ और शनि की ४८½ अंश है। इसी प्रकार समपदान्त में मंगल की शीघ्र परिधि २२९½ अंश बुध की १३०½ गुरु की ६७½ शुक्र की २५६½ शनि की ३६ अंश है। भूवायुकक्षा ३३७५ है।

एक पाद में ९० अंश के भीतर पौने चार अंश की जीवा तथा जीवा खण्ड निम्नलिखित होते हैं :—

चापखण्ड	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
अर्ध ज्या०	२२५	२२४	२२२	२१९	२१५	२१०	२०५	१९९	१९१	१८३	१७४	१६४
चापखण्ड	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
अर्ध ज्या०	१५४	१४३	१३१	११९	१०६	९३	७९	६५	५१	३७	२२	७

दशगीतिकासूत्रमिदं भूग्रहचरितं भपञ्जरे ज्ञात्वा ।
ग्रहभगणपरिभ्रमणं स याति भित्वा परं ब्रह्म ॥१३॥

भूग्रहचरितं इदं दशगीतिकासूत्रं भपञ्जरे ज्ञात्वा सः ग्रहभगणपरिभ्रमणं भित्वा परं ब्रह्म याति । साक्षाद्ब्रह्मस्वरूपो भवतीत्यर्थः ।

भा०

पृथिवी तथा ग्रह का चरित चलनरूप इस दशगीतिका सूत्र को जानकर वह गणितवेत्ता ग्रह भगण परिभ्रमण को भेद कर अर्थात् उन लोकों को होते हुए परब्रह्म में लीन हो जाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है ।

श्री गणेशाय नमः

ब्रह्मकुशशिबुधभृगुरविकुजगुरुकोणभगणान्नमस्कृत्य ।
आर्यभटस्त्विह निगदति कुसुमपुरेऽभ्यर्चितं ज्ञानम् ॥१॥

ब्रह्मादि भगणान्तान्नमस्कृत्य इह कुसुमपुरे पाटलिपुत्रनगरे अभ्यर्चितं अतिशयेन पूजितं ज्ञानं ज्योतिषसिद्धान्तविषयकं आर्यभटो निगदति कथयति । यतोऽयं सिद्धान्तः ब्रह्मसिद्धान्तानुसार अतएव ब्रह्मा पूज्यः ग्रहाः नक्षत्राणि पूज्यानि यतस्तेषां संबन्धिनं ज्ञानम् । पृथिवीत ऊर्ध्वमूर्ध्वं यथा ग्रहाणां स्थितिः तदनुसारेणैव तेषां प्रणतिरत्राचार्येण विहिता । अर्थात् पृथिवीत उपरि चन्द्रः ततो बुधः ततः शुक्रः ततो रविरेवं ग्रहाणां स्थितिः, सर्वत उपरि दूरे भचक्रम् । अतो मङ्गलश्लोक एव आचार्येणेदं प्रदर्शितं यदाकाशे ग्रहाणां भगणानाञ्च स्थितिः कीदृशी । तेन प्रथमो ब्रह्मा ततः कु पृथिवी शशी चन्द्रः बुधः भृगुः शुक्रः रविः कुजः गुरुः कोणः शनिः भगणान् नक्षत्रगणान् नमस्कृत्य ज्योतिष-सिद्धान्तज्ञानं विज्ञानमतएव कुसुमपुरनिवासिभिः परमपूजनीयमिदंज्ञानं । यत इदं ज्ञानं ब्रह्मसिद्धान्तमूलकमतो विशेषतः पूजनीयं । अतएवास्य ज्ञानस्यार्हत्वम् । इह कुसुमपुरे इह शब्दः सूचयति यदार्यभटः कुसुमपुरनिवासी आसीत् ।

तत्र प्रथमं गणितपाद एवोच्यते

एकं दश च शतं च सहस्रायुतनियुते तथा प्रयुतम् ।
कोट्यर्बुदं च वृन्दं स्थानात्स्थानं दशगुणं स्यात् ॥२॥

एकं, दश, शतं, सहस्रं, अयुतं, नियुतं प्रयुतं कोटिः, अर्बुदं वृन्दमेतानि दश स्थानानि एकस्मात् द्वितीयं दशगुणं अर्थात् एकतो दशगुणं दश दशतो दशगुणं शतं शताद्दशगुणं सहस्रं, सहस्राद्दशगुणं अयुतं, अयुताद्दशगुणं नियुतं

लक्षं तस्माद्दशगुणं प्रयुतं, प्रयुताद्दशगुणं कोटिः, कोटेर्दशगुणं अर्बुदं अर्बुदाद्दश-गुणं वृन्दम्। एतानि दशगुणोत्तरस्थानानि सन्ति।

एकं	१
दश	१०
शतं	१००
सहस्रं	१०००
अयुतं	१००००
नियुतं	१०००००
प्रयुतं	१००००००
कोटिः	१०००००००
अर्बुदं	१००००००००
वृन्दं	१०००००००००

वर्गः समचतुरस्रः फलञ्च सदृशद्वयस्य संवर्गः।
सदृशत्रयसंवर्गो घनस्तथा द्वादशास्रःस्यात् ॥३॥

समचतुरस्रः समाः चत्वारो भुजाः कोणाश्च यत्र चतुर्भुजे क्षेत्रे भवन्ति तादृशक्षेत्रस्य नाम वर्गः वर्गाख्यः। तस्य क्षेत्रस्य फलं अर्थात् क्षेत्रफलं सदृशद्वयस्य समानभुजद्वयस्य संवर्गः गुणनं भवति। अर्थाद्वर्गक्षेत्रफलं तुल्ययोर्भुजद्वयोर्घातसमंभवति।

एवं सदृशत्रयभुजैर्निर्मितं क्षेत्रं घनक्षेत्रं भवति अर्थात् यत्र दैर्ध्यं, विस्तृतिः पिण्डंच समानं कोणाश्च समाख्याः तादृशं क्षेत्रं चतुर्भुजघनक्षेत्रं तत्र फलं समान-भुजत्रयस्य गुणनसमंभवति। एतादृशो घनः क्षेत्रसंज्ञकः द्वादशास्रः द्वादश कोणा-त्मकोभवति। दीर्घ विस्तृत्योर्योगेनैकः दीर्घपिण्डेनापरः द्वितीयः एवं विस्तृतिपिण्डेन तृतीयः। अत एकस्मिन् कोणे त्रयः कोणाः एवं चतुर्षु कोणेषु भवन्ति तेन द्वादश समकोणाः घनक्षेत्रे भवन्ति।

अत अनेन श्लोकेन वर्गक्षेत्र घनक्षेत्र स्वरूपं तयोः फलं च कथितमाचार्येण। अत्र ग्रन्थे योगान्तरं, गुणनभजनं च प्रसिद्धत्वात् सुगमत्वाच्च न कथितम्।

अथ वर्गमूलानयनम्

भागं हरेदवर्गान्नित्यं द्विगुणेन वर्गमूलेन।
वर्गाद्वर्गे शुद्धे लब्धं स्थानान्तरे मूलम् ॥४॥

यस्य वर्गराशेर्मूलमभीष्टं तत्र प्रथमं वर्गं विशोध्य वर्गमूलेन द्विगुणेन तेन नित्यं सर्वदा शेषात् अवर्गात् भागं हरेत् लब्धेर्वर्गात् वर्गे शुद्धे लब्धं पुनः स्थानान्तरे नियोज्यं एवं कृते अन्ते वास्तवं मूलं प्राप्यत इति शेषः।

अत्रोपपत्तिः

समद्विघातः कृतिरुच्यते इति परिभाषया कल्प्यते

$(ब+क)^2=(ब+क)(ब+क)=ब^2+कब+कब+क^2=ब^2+२=कब\ ब^2$
अत्र मूलानयने प्रथमं ब वर्गं विशोध्य शेषादवर्गात् ततो द्विगुणेन मूलेन ब संज्ञकेन विभजेत पुनः तत्र क लब्धेर्वर्गं तत्र विशोधयेत्तदा क ; ब मूलं प्राप्यते अत उपपन्नम्।

अघनाद्भजेत् द्वितीयाद् त्रिगुणेन घनस्य मूलवर्गेण।
वर्गस्त्रिपूर्वगुणितः शोध्यः प्रथमाद् घनश्च घनात् ॥५॥

यस्याङ्कस्य घनमूलमभीष्टं तत्र प्रथमस्थानं घनसंज्ञं द्वितीय तृतीये अघनसंज्ञके। चतुर्थं घनसंज्ञं पञ्चमषष्ठे अघनसंज्ञे एवं। तत्रान्त्यात् घनात् घनं विशोध्य द्वितीयाद् अघनात् घनस्य मूलवर्गेण अर्थाल्लब्धघनमूलवर्गेण त्रिगुणेन भजेत्। पुनः भागलब्धस्य वर्गः त्रिभिः पूर्वघनमूलेन गुणितस्तत्र शोध्यः ततः परं प्रथमाद् घनात् घनः शोध्यः एवं कृते घनमूलं प्राप्यते। अत्र प्रथमो घनः अन्त्यसंज्ञकः द्वितीयश्चाद्यसंज्ञकः।

अत्रोपपत्तिः

समत्रिघातश्च घनः प्रदिष्ट इति परिभाषया तावद्घनः

$(घ+अ)^3=(घ+अ)(घ+अ)(घ+अ)=(घ^2+अघ+अघ+अ^2)(घ+अ)$

$=घ^3+अघ^2+अघ^2+घअ^2+अघ^2+अ^2घ+अ^2घ+अ^3$

$=घ^3+३अघ^2+३घअ^2+अ^3$ अत्रापि मूलानयने

प्रथमं घनं विशोध्य शेषादघनात् द्वितीयाद् घनस्य मूलवर्गेण त्रिगुणेन भजेत् तदात्र लब्धिर्या तस्या वर्गः त्रिभिः पूर्वघनमूलेन च संगुण्य तत्र शोध्यः पुनः प्रथमाद् घनात् घनः शोध्यः शेषं पूर्ववत् तदा घनमूलं भवति।

अन्त्य आद्ययोः कल्पनया घनमूलं साध्यते तत्रान्त्यस्थानेऽत्र द्वितीयस्य कल्पना दृश्यते।

त्रिभुजस्य फलशरीरं समदलकोटी भुजार्धसंवर्गः।
ऊर्ध्वभुजा तत्संवर्गार्धं स घनःषड़श्रिरिति ॥६॥

समदलकारिणी या कोटिः त्रिभुजशीर्षादाधारोपरि लम्ब इत्यर्थः तस्याः कोटेः अर्थात् लम्बस्य भुजार्धस्य आधारार्धस्य यः संवर्गः गुणनं तत् त्रिभुजस्य त्रिभुजरूपक्षेत्रस्य फलशरीरं फलरूपं शरीरं क्षेत्रफलमित्यर्थः भवति। समद्विभुजे समत्रिभुजे च त्रिभुजे आधारोपरि लम्बः आधारार्धं करोति तत्राधारस्य लम्बादुभयदिशि समो दलो भागो भवति। विषमत्रिभुजेऽपि उपचारात्तस्यैव लम्बस्याधारार्धस्य च घातः क्षेत्रफलं भवति तत्र त्रिभुजे।

ऊर्ध्वभुजा सूचीशीर्षाल्लम्बस्य तत्तस्य त्रिभुजफलस्य संवर्गार्धं घातार्धं घनः घनफलं सूचीघनफलमिति। तदेव क्षेत्रं षडश्रिः षट् कोणक षड्भुजक इत्यर्थः।

अत्रोपपत्तिः।

कल्प्यते अकव त्रिभुजं यत्र कप, अव आधारोपरि क शीर्षाल्लम्बः तदा शीर्षाधारसमानान्तरा तर रेखा कार्या एवं कप लम्बस्य समानान्तरे अत, वर रेखे कार्ये।
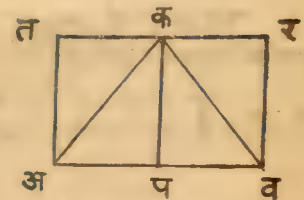
इदानीं अतकप, वरकपआयतद्वयं निष्पन्नं प्रथमायतस्य फलं अप × कप तथा द्वितीयायतस्य फलं वप × कप। क्षेत्रफलयोर्योगः (अप + वप) कप = आ × लं परन्तु अपक त्रिभुजफलं प्रथमायतार्धतुल्यं, एवं वपक त्रिभुजफलं द्वितीयायतार्धतुल्यं तेन समस्त अवक त्रिभुजफलं $= \frac{\text{आ} \times \text{लं}}{२}$ इत्युपपन्नम्।

त्रिभुजाधारसूचीघनफलसाधने तु सूच्यग्राल्लम्बो निपात्यः। लम्बस्य च न तुल्यो विभागः करणीयः तदा प्रथम भाग प्रमाणं $\frac{लं}{न}$ तथा द्विभा $=\frac{२लं}{न}$ तृभा $=\frac{३लं}{न}$ इत्यादि

तदा $\frac{दै.\ लं.}{लं.\times न.}=\frac{दै.}{न.}=दै$

एवं वि. $=\frac{वि.}{न.}$ अतः मुफ $=\frac{मु.}{न.^{२}}$
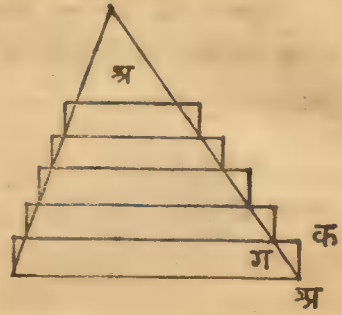
तथा सूची क्षेत्र खण्डानां फलानि क्रमेण $\frac{मुखफल}{न^{२}}$, $\frac{४\ मु.\ फ.}{न^{२}}$, $\frac{९\ मु.\ फ.}{न^{२}}$ .... इत्यादि

अथ प्रत्येकस्मिन् खण्डे वेधः $\frac{लं.}{न.}$ अतस्तेषां घनफलानि

$\frac{लं.\ मुखफल}{न.\ न^{२}}$, $\frac{४\ मुफ.\ लं.}{न^{३}}$, $\frac{९\ मुफ.\ लं.}{न^{३}}$, $\frac{१६\ मुफ.\ लं.}{न^{३}}$ ....

इत्यादि अथैषां घनफलानां

योगः $\frac{लं.\ मुफ.}{न^{३}}+\frac{लं.\ ४\ मुफ.}{न^{३}}+\frac{लं.\ ९\ मुफ.}{न^{३}}+\frac{लं\ \ १६\ मुफ.}{न^{३}}$

$=\frac{लं.\ मुफ}{न^{३}}(१+४+९+१६+\cdots)$ अत्र यदि $१+४+९\cdots=$ कृतियोगः

तदा $\frac{लं.\ मुफ.}{न^{३}}$ कृतियोगः $=\frac{लं.\ मुफ.}{न^{३}}\left(\frac{२न+१}{३}\right)\left(\frac{न^{२}+न}{२}\right)$

$=\frac{लं.\ मुफ.}{न^{३}}\frac{(२न^{३}+३न^{२}+न)}{६}=लं.\ मुफ.\left(\frac{१}{३}+\frac{१}{२न}+\frac{१}{६न^{२}}\right)$

अत्र न प्रमाणं यथा यथा वर्धते तथा तथा अ क ग इत्यादिक्षेत्राणां ह्रासः तथा न मानस्य परमवृद्धौ तेषां क्षेत्राणामभावः अतस्तदा सूचीघनफलं $=$

$लं.\ मुफ.\left(\frac{१}{३}+\frac{१}{२न}+\frac{१}{६न^{२}}\right)$ परन्तु न संख्यायाः परमवृद्धौ

$\frac{१}{२न}+\frac{१}{६न^{२}}=०$

कल्पयितुं शक्यते अतस्तदा सूचीघनफलं $=लं.\ मुफ.\frac{१}{३}=\frac{लं\ \ मुफ.}{३}$

आचार्यमते $\frac{लं.\ मुफ.}{२}$ सूचीघनफलं किञ्चित्स्थूलम्।

भा०

त्रिभुज क्षेत्र में शीर्ष से आधार पर जो लम्ब होगा उसे कोटि कहते हैं। आधार को भुज कहते हैं। भुजार्ध और कोटिका गुणन त्रिभुज का फल होता है। यहाँ आचार्य फल त्रिभुजफल को फलशरीर कहते हैं। फल वस्तु ही शरीर है अर्थात् त्रिभुज के भीतर में जो स्थान है उसका मान ही तो त्रिभुजफल है उसे त्रिभुजशरीर भी कह सकते हैं। त्रिभुज में आधारार्ध और लम्ब का गुणनही फल होता है। यहाँ संवर्ग शब्द से गुणन अर्थ है। ऐसा भान होता है कि आचार्यने समद्विबाहु या समबाहु क्षेत्र का फल साधन किया है क्योंकि आधार पर शीर्ष से पड़ी लम्बरेखा उन्हीं दोनों त्रिभुजों में आधार को आधा करती है। समदल कोटि का यही अर्थ होगा कि समान दो भाग करनेवाली जो कोटि अर्थात् लम्बरेखा। उपचारात् किसी त्रिभुज में भुजार्ध और लम्ब का गुणन त्रिभुजफल होता है।

इसकी उपपत्ति यह है कि आधार के दोनों अग्रों से लम्बरेखा का समानान्तर दो रेखा खींचने से तथा शीर्ष से आधार का समानान्तर रेखा करने से एक आयत क्षेत्र हो जायगा जिसका क्षेत्रफल लम्ब और त्रिभुज के आधार के गुणनफलतुल्य होगा। चूँकि एक ही आधार पर त्रिभुज और चतुर्भुज बना हुआ है इसलिए रेखागणित के नियम से त्रिभुजक्षेत्रफल से चतुर्भुजक्षेत्रफल द्विगुण होगा। अतः चतुर्भुजक्षेत्रफल का आधा अर्थात् लम्ब आधारार्ध का गुनणफल त्रिभुजफल सिद्ध हुआ।

त्रिभुजाधार सूची के घनफलानयन में स्थूलता है। आचार्य कहते हैं कि ऊर्ध्वभुजा अर्थात् लम्ब से त्रिभुजफल को गुण देने से तथा आधा करने से उस का घनफल होता है। वास्तव में समखातफल का तृतीयांश घनफल होता है। घनफल की उपपत्ति ऊपर संस्कृत में है।

समपरिणाहस्यार्धं विष्कम्भार्धहतमेव वृत्तफलम्।
तन्निजमूलेन हतं घनगोलफलं निरवशेषम्॥ ७॥

समवृत्तक्षेत्रपरिणाहस्य परिधेरर्धं विष्कम्भार्धेन वृत्तव्यासार्धेन हतं गुणितं अर्थात् वृत्तपरिधिव्यासघातचतुर्थांशः वृत्तफलं वृत्तक्षेत्रफलं भवति। तत्फलं निज-मूलेन हतं तदा निरवशेषं निश्शेषं घनफलं भवति। वृत्तक्षेत्रफलसाधने कल्प्यते प = परिधिः, न बहुविभागः परिधेः तदा रअ = $\frac{प}{न}$ अत्र अर भुजं मत्वा अरक क्षेत्रे रक कोटिः कल्पिता तदा अरक त्रिभुजे क्षेत्रफलं

$$= \frac{अर \times रक}{२} = \frac{\frac{प}{न} \cdot \frac{१}{२} व्या.}{२} = \frac{प. व्या.}{४ न}$$
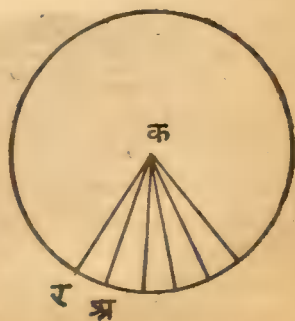
अत्र न संख्यकानि त्रिभुजानि अतस्त्रिभुजफलं न गुणितं वृत्तफलं भवति तेन $\frac{\text{प. व्या.}}{\text{४न}}\text{न} = \frac{\text{प. व्या.}}{\text{४}}$ इत्युपपन्नं वृत्तफलानयनं।

यथा वर्गक्षेत्रे वर्गक्षेत्रफलं वर्गक्षेत्रफलमूलेन गुणितं घनफलं भवति तथात्रापि वृत्तक्षेत्रफलं तत्क्षेत्रफलमूलेन गुणितं घनफलं भवति। परमिदं न वास्तवं फलं। वास्तवफलानयनमग्रेऽस्ति। आर्यभटोदितवृत्तघनफलं वास्तवफलतो महदधिकमिति सिध्यति। आचार्यानीतं घनफलं स्वपञ्चांशेनोनं तदा वास्तवासन्नं फलं भवति।

अथ वृत्तफलं वृत्तक्षेत्रफलमूलेन हतं घनफलं तत् प्रदर्श्यते।

$$\text{वृत्तफलं} = \frac{\text{प} \times \text{व्या.}}{\text{४}} = \frac{\text{व्या.}\, \pi \times \text{व्या.}}{\text{४}} = \frac{\pi\, \text{व्या.}^{\text{२}}}{\text{४}}$$

$$\text{अस्यमूलं} \sqrt{\pi}\, \frac{\text{व्या.}}{\text{२}}$$

$$\text{अतः आर्यभटमते घनफलं} = \frac{\pi\, \text{व्या.}^{\text{२}}}{\text{४}} \times \sqrt{\pi}\, \frac{\text{व्या}}{\text{२}} = \frac{\pi^{\text{३}}\, \text{व्या.}^{\text{३}}}{\text{८}}$$

$$\text{वास्तवघनफलं} = \frac{\pi\, \text{व्या.}^{\text{२}} \times \text{४} \times \text{व्या.}}{\text{४} \times \text{६}} = \frac{\pi\, \text{व्या.}^{\text{३}}}{\text{६}}$$

$$\text{वा,}\ \frac{\pi\, \text{व्या.}^{\text{३}}}{\text{६}} = 7 \angle \frac{\pi^{\frac{\text{३}}{\text{२}}}\, \text{व्या.}^{\text{३}}}{\text{८}}$$

$$\frac{\pi}{\text{३}} = 7 \angle \frac{\pi^{\frac{\text{३}}{\text{२}}}}{\text{४}}$$

$$\text{४} = 7 \angle \text{३}\sqrt{\pi} = \sqrt{\text{९}\pi} = \sqrt{\frac{\text{९} \times \text{२२}}{\text{७}}} = \sqrt{\frac{\text{१९८}}{\text{७}}} = \sqrt{\text{२८}}$$

$=$५ स्वल्पान्तरात् अतो दक्षिणपक्षोऽधिकः।

वास्तव वृत्तक्षेत्रघनफलानयनार्थंकल्प्यते आअव वृत्तचतुर्थांशः, वृत्तस्यकेन्द्रं आ, अस तथा बस, अ ब विन्द्वोः स्पर्शरेखे कर्त्तव्ये तथा ते स विन्दौ मिलतः तदा आअसव वर्गक्षेत्रं जातम्। आस रेखा कार्या। अत्र आब व्यासार्धोपरि क्षेत्रस्य भ्रमणं विचार्यताम्। तदा आबस त्रिभुजं एकां सूचीमुत्पादयति; आअव वृत्तचतुर्थांशः गोलार्धमुत्पादयति तथा आअसव समतलमस्तकक्षेत्रमुत्पादयति। आब रेखायां कस्माच्चन म विन्दोः आअ समानान्तरा मर रेखा विधेया या आस रेखां प विन्दौ अब चापं क विन्दौ अस स्पर्शरेखां र बिंदौ च क्रमशः छिनत्ति। एकाऽन्या रेखा च मर रेखाया अत्यन्तसमीपे तत्समानान्तरा विधेया। तदा भ्रमणेन सूच्यन्तर्गतं मप व्यासार्धवृत्तं; गोलार्धान्तर्गतं मक व्यासार्धवृत्तं, तथा समतलमस्तकक्षेत्रान्तर्गतं मर व्यासार्धवृत्तमुत्पद्यते। एवमनेकसमानान्तररेखाभिः तथाविधानि क्षेत्राणि भवेयुः। अत्र π = वृत्तपरिधिव्यासयोः संबन्धः स्थिरः।

अथ सूच्यन्तर्गतवृत्तफलं = π मप^2

गोलार्धान्तर्गतवृत्तफलं = π मक^2

तथा समतलमस्तकक्षेत्रान्तर्गतवृत्तफलं = π मर^2 अतस्तेषां सम्बन्धः

मप^2, मक^2, मर^2 संवन्धसमोभवेत्।

परन्तु मप = आम यतः प आम = समकोणार्धं = आपम तथा मर = आअ = आक अतः मप^2 + मक^2 = आम^2 + मक^2 = आक^2 = मर^2।

अतः समानान्तररेखोत्पादितघनफलानां मध्ये सूच्यन्तर्गत तथा वृत्तार्धान्तर्गत घनफलयोर्योगः समतलमस्तकपरिधिक्षेत्रान्तर्गत घनफलेन तुल्यः।

एष संवन्धः सर्वत्र प्रयोगार्हः यदि सा रेखा आअ व्यासार्धेन समन्तात भ्राम्यमाणेन समानान्तरा भवेत्।

अतः समानान्तररेखाभ्यः उत्पादितक्षेत्रघनफलानां योगे कृते आवस त्रिभुजोत्पादित सूच्यन्तर्गतघनफलस्य तथा वृत्तचतुर्थांशजनितक्षेत्रघनफलस्य च योगः समतलमस्तकपरिधिक्षेत्रजनितघनफलेन तुल्यः सिद्धः।

परन्तु सूचीघनफलं = $\frac{1}{3}$ समतलमस्तकपरिधिघनफलं

अतः गोलार्धघनफलं = समन म प घनफल − $\frac{१}{३}$ समत म प घ फ

$$= \frac{२ \text{ समन म प घ फ}}{३}$$

अतः गोलघनफल $= \frac{४ \text{ समत म प घ फ}}{३}$

$$= \frac{४}{३} \cdot \frac{\text{वृत्तफल. व्या.}}{२} = \frac{४}{६} \text{ वृत्तफल} \times \text{व्या}$$

$$= \frac{\text{गोलफल} \times \text{व्या}}{६}$$

अतः आचार्यानीतगोलं घनफलं $= \frac{\text{प} \times \text{व्या.}}{४} \cdot \sqrt{\frac{\text{प. व्या.}}{४}}$

स्थूलमिति.

अथ प्रसङ्गादनुक्तमपि गोलपृष्ठफलं साध्यते

कल्प्यते असव वृत्तार्धं यत् अव स्वव्यासोपरि भ्राम्यमाणेन गोल मुत्पादयति। कल्प्यतां वृत्तस्यास्य केन्द्रं आ। कल्प्यतां वृत्तान्तर्गत समबहुभुज क्षेत्रस्य भुजः रन, रन रेखाया उपरि आट लम्बो विधेयः तदा रन आट-रेखया तुल्यविभक्ता भवति। रम, टप नथ, अव व्यासोपरि लम्बाः कृताः तथा नथ उपरि रक लम्बः कृतः।
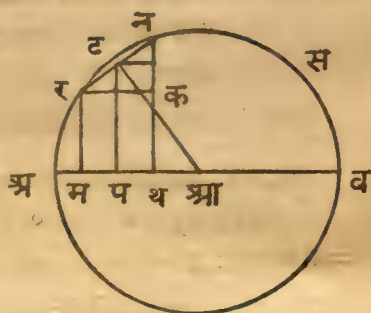
तदा रन भुजः अव रेखायाः समन्तात् स्वीयभ्रमणेन एकं सूचीक्षेत्र मुत्पादयति यस्य फलं टप व्यासार्धवृत्तपरिधेः

रन घातस्य तुल्यं भवति = २टप × रन × π, अत्र $\pi = \frac{३९२७}{१२५०}$

परन्तु रकन, पटआ त्रिभुजे सजातीये अतः $\frac{\text{रन}}{\text{रक}} = \frac{\text{आट}}{\text{टप}}$

∴ ट प × र न = आ ट × र क = आ ट × म थ

∴ सूचीरूपक्षेत्रफलं = २ π × आ ट × म थ

अत्र यदि वृत्तान्तर्गतसमबहुभुजक्षेत्रस्य भुजा बहु संख्यकाः क्रियन्ते तदा अन्ते बहुभुजक्षेत्रभुजा वृत्तस्यपरिधिना ऐक्यमाप्स्यन्ति अतः सर्वेषां सूची-क्षेत्ररूपफलानां योगः गोलफलतुल्यो भवति।

अतः सर्वफलानां योगः = २ π आ ट × अ व। परन्तु आट व्यासार्धतुल्यो भविष्यति तथा अ व = व्यास

अतः २ π $\frac{\text{व्या.}}{२}$ व्या. = प. व्या. इत्युपपन्नम्।

भा०

वृत्तक्षेत्र में परिधि के आधे को व्यासार्ध से गुणन करने पर वृत्तफल होता है। वृत्तफल को अपने ही मूल से गुण दें तो निःशेष गोलघनफल होता है।

वृत्तचाप का सौवां हिस्सा सीधी रेखा के सदृश मालूम होता है उस से भी छोटे हिस्से की दोनों ओर से केन्द्र तक रेखा ले जाने से एक त्रिभुज होगा उस त्रिभुज में लम्ब भी व्यासार्ध ही के तुल्य करीब-करीब होगा इसलिये त्रिभुजफल वृत्त खण्ड का आधा तथा व्यासार्ध का गुणन तुल्य होगा। इसी प्रकार प्रत्येक खण्ड का फल होगा। और सब फल का योग वृत्तक्षेत्र का फल होगा। परन्तु सब फल के योग करने से सब परिधि खण्डों का योग परिधि के तुल्य होगा अतएव परिधि का आधा तथा व्यासार्ध का गुणन तुल्य वृत्तक्षेत्रफल होगा।

घनफल साधन से ऐसा मालूम पड़ता है कि जैसे वर्गक्षेत्रफल को उसी के मूल से गुणन करने पर घनफल होता है उसी प्रकार वृत्तफल को वृत्तफल के मूल से गुण देने पर घनफल होगा ऐसा ही अनुभव किया होगा। वास्तव घनफल के लिये दूसरा क्षेत्र दिया गया है। यह भी दिखाया गया है कि आचार्य के द्वारा लाये हुए घनफल के पञ्चमांश यदि उस फल में घटा दिया जाय तो वास्तवफल के करीब घनफल होता है। ये सब बातें संस्कृतव्याख्या में लिखी गई हैं।

आचार्य के द्वारा लाया हुआ परिधि का मान ठीक है, वृत्तफल भी ठीक है। गोलफल का साधन इन्होंने नहीं किया है। गोलघनफल-साधन में कुछ स्थूलता है। उतने प्राचीन समय में इतना भी ज्ञान होना प्रशंसा का विषय है।

आयामगुणे पार्श्वे तद्योगहृते स्वपातरेखे ते।
विस्तरयोगार्धगुणे ज्ञेयं क्षेत्रफलमायामे ॥८॥

पार्श्वे भूमुखे आयामो लम्वः तेन गुणे गुणिते तयोर्भूमुखयोर्योगेन हृते तदा ते स्वपातरेखे भवतः। कर्णयोः संपाताद्भुव उपरि यो लम्वः एवं तस्मादेव संपातात् मुखोपरि यो लम्वः त एव स्वपातरेखे भवतः। स्वपातात् अर्थात् कर्णयोः संपातात् लम्वरूपरेखिके भवतः।

एवमायामे विस्तरयोगार्धेन अर्थात् भूवदनयोर्योगार्धेन गुणे गुणिते तस्य चतुर्भुजक्षेत्रस्य फलं भवति।

अत्रोपपत्तिः।
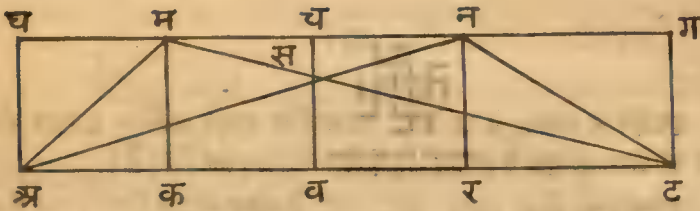
कल्प्याते अमनट समलम्वचतुर्भुजक्षेत्रं यत्र मक, नर समलम्वौ, अट भूमिः मन=वदनं। अन, मट कर्णौ अनयोः संपातविन्दुः स तस्मादाधारोपरि लम्बः सव। मन रेखामुभयदिशि संवर्ध्य अघ, टग लम्वौ निपातनीयौ, वस लम्वश्च च विन्दुपर्यन्तं वर्धनीयः।

असव, अनर क्षेत्रयोः साजात्यात् $\frac{\text{अर}}{\text{अव}} = \frac{\text{नर}}{\text{सव}} = \frac{\text{लं}}{\text{सं·रे.}}$ रे. ६।२ क्षे.

एवं टकम, टवस त्रिभुजयोः साजात्यात् $\frac{\text{टक}}{\text{टव}} = \frac{\text{मक}}{\text{सव}} = \frac{\text{लं}}{\text{सं·रे.}}$

$\therefore \frac{\text{अर}}{\text{अव}} = \frac{\text{टक}}{\text{टव}}$ एकान्तरनिष्पत्त्या $\frac{\text{अर}}{\text{टक}} = \frac{\text{अव}}{\text{टव}}$

पक्षयोः रूपयोजनेन

$$\frac{\text{अर}+\text{टक}}{\text{टक}}=\frac{\text{अव}+\text{टव}}{\text{टव}}$$, परन्तु अर+टक=अट+कर=भू+मु.

एवं अव+टव=भू

अतः $\frac{\text{भू}+\text{मु}}{\text{टक}}=\frac{\text{भू}}{\text{टव}}$ एकान्तरनिष्पत्त्या $\frac{\text{भू}+\text{मु}}{\text{भू}}=\frac{\text{टक}}{\text{टव}}$

परञ्च $\frac{\text{टक}}{\text{टव}}=\frac{\text{भू}+\text{मु}}{\text{भू}}=\frac{\text{लं}}{\text{सं रे}}$ तेन संरे $=\frac{\text{लं}\times\text{भू}}{\text{भू}+\text{मु}}$ इत्युपपन्नम् .

एवं मगट, मचस त्रिभुजयोः साजात्यात् $\frac{\text{म ग}}{\text{म च}}=\frac{\text{ग ट}}{\text{स च}}=\frac{\text{लं}}{\text{सं. रै.}}$

एवं अनघ, चनस त्रिभुजयोः साजात्यात् $\frac{\text{नघ}}{\text{नच}}=\frac{\text{अघ}}{\text{सच}}=\frac{\text{लं}}{\text{सं. रै.}}$

$\therefore$ $\frac{\text{मग}}{\text{मच}}=\frac{\text{नघ}}{\text{नच}}$, एकान्तरनिष्पत्त्या

$\frac{\text{मग}}{\text{नघ}}=\frac{\text{मच}}{\text{नच}}$, रूपयोजनेन $\frac{\text{मग}+\text{नघ}}{\text{नघ}}=\frac{\text{मच}+\text{नच}}{\text{नच}}$

परन्तु मग+नघ=भू+मुख, तथा मच+नच=मुख

$\therefore$ $\frac{\text{भू}+\text{मु}}{\text{नघ}}=\frac{\text{मु.}}{\text{नच}}$, अथवा $\frac{\text{भू}+\text{मु}}{\text{मु}}=\frac{\text{नघ}}{\text{नच}}=\frac{\text{लं}}{\text{सं रैं}}$

अतः सं रे $=\frac{\text{मु लं.}}{\text{भू}+\text{मु}}$ इत्युपपन्नं स्वपातरेखे ते ।

अथ फलानयनम्

$\triangle$अकम + $\square$मनरक + $\triangle$नटर = चतुर्भुजक्षेत्रफल

परन्तु $\triangle$अकम $=\frac{\text{अक}\times\text{लं}}{२}$, $\square$मनरक = कर $\times$ लं,

$\triangle$टनर $=\frac{\text{रट}\times\text{लं}}{२}$

$$\text{अतः च. फ.} = \frac{\text{अक} \times \text{लं}}{२} + \text{कर} \times \text{लं} + \frac{\text{रट} \times \text{लं}}{२}$$

$$= \frac{\text{अक} \times \text{लं} + २\,\text{कर} \times \text{लं} + \text{रट} \times \text{लं}}{२}$$

$$= \frac{\text{लं}\,(\text{अक} + \text{कर} + \text{रट} + \text{कर})}{२} = \frac{\text{लं}\,(\text{भू} + \text{मु})}{२}$$

इत्युपपन्नं विस्तरयोगार्धगुणे ज्ञेयं क्षेत्रफलमायामे ।

सर्वेषां क्षेत्राणां प्रसाध्य पार्श्वे फलं तदभ्यासः ।
परिधेषड्भागज्या विष्कम्भार्धेन सा तुल्या ॥६॥

सर्वेषां उक्तानामनुक्तानां वा क्षेत्राणां पार्श्वे आयामविस्तारौ ययोः संबन्धेन फलज्ञानं सुकरं भवति तत् प्रसाध्य यया कयापि रीत्या ज्ञात्वा तदभ्यासः तयोर्विस्तारायामयोर्गुणनं तस्य क्षेत्रस्य फलं भवति । तथा परिधेः अर्थाद्वृत्तपरिधेः षड्भागस्य षष्ठांशस्य ज्या पूर्णज्या विष्कंभार्धेन तस्यवृत्तस्य व्यासार्धेन त्रिज्यया-तुल्या भवति । अग्रे व्यासपरिधिसंबन्धकथनार्थमयमुपक्रमः ।

समद्विबाहु समत्रिबाहु त्रिभुजे शीर्षादाधारार्धकारिणी रेखा आयामो भवति तस्याधारस्य गुणनमर्धितञ्च त्रिभुजफलं भवति । विषमत्रिभुजे 'त्रिभुजे भुजयोर्योग' इत्यादि भास्कराचार्यविधिना आयामं प्रसाध्य तेन गुणितमाधारार्धं त्रिभुजफलं भवति । जात्यत्रिभुजे आयामरूपस्यैकभुजस्य तदाधारस्यार्धस्य च गुणनं फलं भवति ।

चतुर्भुजक्षेत्रे हि वर्गक्षेत्रे आयते च आयामरूपस्यैकभुजस्य तदाधारस्य च गुणनं क्षेत्रफलं भवति । एवं समलम्बे चतुर्भुजे लम्बरूपायामस्य भूमुखयोगार्धस्य च घातः क्षेत्रफलं भवति । एवं यस्मिन् कस्मिन्नपि विषमचतुर्भुजे एकं कर्णं कल्पयित्वा तदुपरिशेषकोणात् लम्बौ निपातनीयौ । लम्बयोगं आयामं मत्वा तस्य कल्पितकर्णस्य च घातः दलितः क्षेत्रफलं भवति । अथवा यत्किमपि चतुर्भुजं त्रिभुजे परिणाम्य ततः पूर्ववत् आयामं संसाध्य तस्य साधितत्रिभुजाधारस्य च घाते दलिते चतुर्भुजफलं भवति । एवं सर्वत्रायामं परिसाध्य क्षेत्रफलसाधनं भवति ।

विषमचतुर्भुजस्य त्रिभुजे परिणामनं यथा—
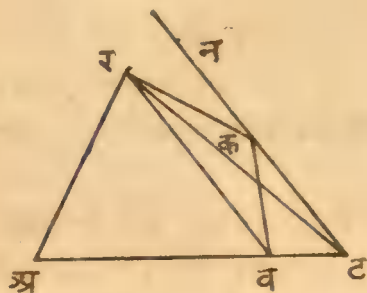
कल्प्यते अवकर विषमचतुर्भुजं वर रेखा योजनीया, क विन्दोः कट रेखा वर रेखायाः समानान्तरा करणीया अत्र ट अव आधारस्य वर्धितविन्दुः। तथा रट रेखा योज्या।

तदा वर आधारोपरि वरक, वरट त्रिभुजफलं तुल्यं। द्वयोः क्षेत्रयोर्मध्ये अवर त्रिभुज योजनेन अवकर चतुर्भुजं अटर त्रिभुजतुल्यं सिद्धं। अतोऽत्र र विन्दोरायामं संसाध्य तेन गुणितं अट आधारस्यार्धं त्रिभुजफलं सुखेन भवति। एवं सर्वत्रायामस्य संसाधनमेवेष्टम्।

परिधेः षड्भागज्या व्यासार्धतुल्या भवति तद्यथा।
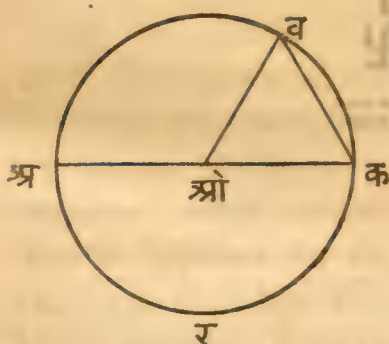
कल्प्यते अवकर ओक व्यासार्धेन वृत्तं यस्य केन्द्रं ओ, कव चापं वृत्तपरिधिषडंशः तदा ओक, ओव रेखे कार्ये। यतः कव वृत्तषडंशः अतएव कओव कोणः $\frac{३६०}{६} = ६०^\circ$ तथा ओक, ओव व्यासार्धे तुले अतः ओकव त्रिभुजं समत्रिभुजं सिद्धं यतः $\angle$ ओकव = $\angle$ ओवक $= \frac{१८० - ६०}{२} = ६०^\circ$

अतः वक पूर्णज्या वृत्तव्यासार्धतुल्या सिद्धेत्युपपन्नम्।

भा०

सब क्षेत्रों में चाहे वह किसी प्रकार का चतुर्भुज या बहुभुजक्षेत्र हो उसके पार्श्व का अर्थात् आयाम विस्तार का साधन कर उन दोनों का गुणनफल क्षेत्रफल होता है। परिधि के छठे भाग की ज्या अर्थात् पूर्णज्या उस वृत्त के व्यासार्ध के तुल्य होती है।

वर्गक्षेत्र, आयत, समलम्बचतुर्भुजक्षेत्र का फलसाधन तो स्वयं आचार्य ने किया है। अन्य विषम चतुर्भुज क्षेत्र का भी आयाम साधन कर आयाम विस्तृति का गुणन उस क्षेत्र का फल होता है, आयाम कैसे लाना इसका उपाय ऊपर में बतलाया गया है।

बहुभुजक्षेत्र भी हो तो उसको चतुर्भुज क्षेत्र में परिणत कर फिर आयाम साधन कर फलानयन करना चाहिए।

वृत्त के षष्ठांश की पूर्णज्या वृत्तव्यासार्ध के तुल्य होती है यह भी ऊपर दिखाया गया है। यह कहने का प्रयोजन इसलिये हुआ कि षट् गुणित व्यासार्ध अर्थात् त्रिगुणित व्यास से परिधिमान बड़ा होता है इतनी बात इससे स्पष्ट हो गई तब आगे युक्ति से व्यास परिधि का सम्बन्ध स्थिर किया गया है।

वृत्त में षष्ठांश की पूर्णज्या की दोनों ओर से केन्द्र तक रेखा करने से एक समत्रिकोण त्रिभुज बन जाता है क्योंकि केन्द्र लग्न कोण = ६०° अतएव शेष दोनों कोण समद्विबाहुक के कारण ६०° का होगा अतएव इसके तीनों बाहु तुल्य हुए अर्थात् पूर्णज्या व्यासार्ध के तुल्य सिद्ध हुई।

चतुरधिकं शतमष्टगुणं द्वाषष्टिस्तथा सहस्राणाम्।
अयुतद्वयविष्कम्भस्यासन्नो वृत्तपरिणाहः॥ १०॥

चतुरधिकं शतमष्टगुणं अर्थात् द्वात्रिंशदधिकमष्टशतं तथा सहस्राणां द्वाषष्टिः ६२८३२ एतेऽङ्का अयुतद्वयविष्कम्भस्य विंशतिसहस्रव्यासस्य आसन्नः न स्फुटः वृत्तपरिधिर्भवति अर्थात् विंशतिसहस्रमिते व्यासे परिधिप्रमाणं द्विकाग्न्यष्टयमर्त्तु तुल्यं ६२८३२ भवति। व्यासपरिध्योः स्फुटसंबन्धज्ञानं कठिनं। पूर्वश्लोकेनेदं ज्ञातं यत् परिधिषष्ठांशस्य पूर्णज्या व्यसार्धतुल्या भवति। पूर्णज्यातः परिधेर्मानमधिकं भवति अतो व्यासार्धतो परिधिषष्ठांशमानमधिकं तेन त्रिगुणित व्यासतः वृत्तपरिधिमानमधिकमिति स्पष्टं दृश्यते। वस्तुत एष संबन्धः क एतत् ज्ञानार्थं भास्कराचार्यः "महदयुतादि व्यासार्धं प्रकल्प्य वृत्तशतांशादपि सूक्ष्मविभागस्य ज्योत्पत्तिविधिना ज्या साध्या। यत्संख्याकस्य विभागस्य ज्या तत्संख्यया सा गुणिता सती परिधिर्भवति। यतः शतांशादपि सूक्ष्मोऽशो वृत्ते समः स्यात्। अतोऽयुतद्वयव्यासे द्विकाग्न्यष्टयमर्त्तुमितः परिधिरार्यभटाद्यैरङ्गीकृतः।" अत्र सूक्ष्मपरिध्यानयनार्थं बापूदेवशास्त्री "त्रिज्या रूपमिता यत्र चापस्पर्धिगुणस्य च। द्व्याढ्यस्य मूलं चापार्धस्पर्धिनी शिञ्जिनी भवेत्" एवं रीत्या $\frac{६२८३२}{२००००}$ एष व्यासपरिधिसंबन्धः सूक्ष्म एव। श्रीधराचार्यब्रह्मगुप्तादिभिस्तु $\sqrt{१० व्या^२} = \sqrt{१०}$ व्या. व्यासवर्गाद्दशगुणान्मूलं परिधिः कल्पितः सुखार्थम्।

द्विकाग्न्यष्टयमर्त्तुमितलघुवाक्यस्थाने चतुरधिकं शतमष्टगुणमित्यादि महद्वाक्यद्वारा तदङ्कप्रकाशनं सूचयति यदार्यभटसमये अङ्कस्य वामागतिरिति सिद्धान्तस्तदा प्रचलितो नासीत्। एतदज्ञानमेव गूढाक्षरैः संकेतैः भगणाङ्कप्रकाशनं समर्थयति। अन्यथा तदङ्कप्रकाशनं दुर्घटमेवासीत्।

इष्टव्यासानयनमनेन त्रैराशिकेन भवति। यदि द्विकाग्न्ययष्टमर्त्तुमितौ परिधिमाने विंशतिसहस्रमितो व्यासस्तदा चक्रकलापरिधौ क इत्यनेन व्यासार्धं त्रिज्या वा ३४३८ भवति।

भा०

एकसौचार को आठ से गुण दे अर्थात् ८३२ तथा बासठ हजार अर्थात् बासठ हजार आठ सौ बत्तीस ६२८३२ बीस हजार व्यास में करीब-करीब परिधि होती है। वास्तव नहीं किन्तु आसन्न परिधि का मान आता है। वृत्त परिधि के बहुत छोटे अंश की पूर्णज्या का ज्योत्पत्तिविधि से साधन किया जहाँ पूर्णज्या और चाप में बहुत अल्प अन्तर हो। जितने विभाग की वह पूर्णज्या हो उतनी संख्या से पूर्णज्या मान को गुण देने से परिधि का मान हो जायगा। यहाँ २०००० व्यासमे परिधिमान ६२८३४ होता है। ६२८३४ संख्या को आधे श्लोक में आचार्य ने कहा जिसको भास्कराचार्य ने द्विकाग्न्यष्टयमर्त्तुमितः इतने ही शब्द में कहा है इससे यह समझ में आता है कि आर्यभट के समय में अङ्कस्य वामागतिः लिखने की प्रथा नहीं हुई थी और संभव है बड़े अङ्कों को कैसे प्रकाशित किया जाय इस दृष्टि से भी अक्षर तथा स्वर संकेत से उन्होंने अङ्कों का प्रवचन किया।

व्यासवर्ग को दश से गुण देने पर मूल लेने से परिधिमान होता है। यह नियम संभवतः आर्यभट को मालूम था तथापि इसे स्थूल समझ कर उन्होंने इससे सूक्ष्म परिधिमान को कहा। ब्रह्मगुप्त के सिद्धान्त में पूर्वोक्त प्रकार से परिधिमान लाया गया है।

त्रिज्या रूपमिता यत्रेत्यस्योपपत्तिः।

अत्र वट = ज्या = पूर्णज्या = या

चापस्पर्धि = ९० − चाप

गुण शब्देन पूर्णज्या ग्राह्या

त्रि = १, ट द = व्यासः = २

$\therefore$ द ट^2 − वट^2 = ४ − या^{2} = वद^2

वर = $\frac{\text{वद}}{२}$ = केन

अतः केन = $\frac{\sqrt{४ - \text{या}^2}}{२}$

$$कन = उत्क्रमज्या = त्रि - केन = १ - केन = \frac{२ - \sqrt{४ - या^२}}{२}$$

ततः त्रिज्योत्क्रमज्यानिहतेरित्यादिना

$$\sqrt{\frac{त्रि \cdot उज्या}{२}} = \frac{कट}{२} \therefore \left(\frac{कट}{२}\right)^२ = \frac{२ - \sqrt{४ - या^२}}{४}$$

$$\therefore कट^२ = २ - \sqrt{४ - या^२}$$

ततः $४ - कट^२ = कद^२ = २ + \sqrt{४ - या^२}$

$$परन्तु \sqrt{४ - या^२} = चापस्पर्धिगुण$$

$$\therefore २ + चापस्पर्धिगुण = कद^२$$

$$\therefore \sqrt{२ + चापस्पर्धिगुण} = कद = चापार्धस्पर्धिगुण$$

इत्युपपन्नम् ।

समवृत्तपरिधिपादं छिन्द्यात् त्रिभुजाच्चतुर्भुजाच्चैव ।
समचापज्यार्धानि तु विष्कम्भार्धे यथेष्टानि ॥ ११ ॥

वृत्तपादे चतुर्विंशतिसमचापज्यासाधनार्थमितिकर्त्तव्यतां निर्दिशति । प्रथमं समवृत्तपरिधेः पादं चतुर्थांशं छिन्द्यात् वृत्तकेन्द्रात्परिधिपर्यन्तमेकां रेखां कृत्वा केन्द्रतस्तदुपरि लम्बकरणेन वृत्तपादं छेदितं भवति । तदा विष्कंभार्धे कल्पिते निर्मितात् त्रिभुजात् क्षेत्रात् चतुर्भुजाच्च क्षेत्रात् यथेष्टानि समचापस्य ज्यार्धानि सिद्धानि भवन्ति ।

वृत्तव्यासार्धयोः परस्परलंबभूतयोरग्रे कर्णरेखां बध्वैकं त्रिभुजमुत्पन्नं भवति । तदात्र कर्णार्धं पञ्चचत्वारिंशदंशज्या भवति । वृत्त व्यासार्धद्वयेन वृत्तषष्ठांशपूर्णज्यया च निर्मिते त्रिभुजे वृत्तषडंशपूर्णज्यार्धं त्रिज्यार्धं राशिज्या भवति । एवमत्र वर्णितक्षेत्रद्वये चतुर्भुजक्षेत्र संपादनेन ३०°, २२½° ज्यायाः १५° ज्यायाः ज्ञानं भवति । एवमाभिश्चतुर्ज्याभिः साधिताभिः कोटिज्यासंपादनेन ६०°, ६७½°,

७५° अंशानांजीवाः साधिता भवन्ति। एवं अन्या अपि जीवाः साधिता भवन्ति त्रिभुजचतुर्भुजक्षेत्रयोजनया।

तथा एकेनैव प्रकारेण सर्वा अपि जीवाः कथं साधिता भवन्ति तस्य-प्रकारोऽग्रे वक्ष्यति।

भा०

समवृत्त परिधि के चतुर्थांश को त्रिभुजक्षेत्र तथा चतुर्भुज क्षेत्र से छिन्न कर देना चाहिये। इस प्रकार व्यासार्ध में अर्थात् एक व्यासार्ध पर लम्बरूप द्वितीय व्यासार्ध में अर्थात् एक वृत्तपाद में यथेष्ट समचापज्यार्ध सिद्ध होते हैं।

एक वृत्तवाद में समान चौबीस चापज्यार्ध का मान साधन करने में इतिकर्त्तव्यता दिखाते हैं। पहले समवृत्तपरिधिपाद को बनावें अर्थात् केन्द्र से परिधि पर्यन्त एक रेखा करके उस पर लम्बरेखा केन्द्र से करने पर वृत्तपाद बन जाता है। तब इस वृत्तपाद को त्रिभुज चतुर्भुज से छिन्न करें। अर्थात् लम्बरूप दोनों व्यासार्ध के अग्र में रेखा करने से वह ९०° की पूर्णज्या और उसका आधा ४५° की जीवा होती है। इसी प्रकार साठ अंश की पूर्णज्या वाले त्रिभुज में पूर्णज्या का आधा ३०° की ज्या होती है। इसी प्रकार ४५° ज्या कोटिज्या से निर्मित चतुर्भुज तथा ६०° जीवा कोटिज्या से निर्मित चतुर्भुज में ३०°, २२½° जीवा १५° जीवा का ज्ञान होता है। इनकी कोटिज्या साधन करने से ६०°, ६७½°, ७५° की जीवा का ज्ञान होता है। एवं इन ज्याओं से तदर्धांशों की ज्या जानी जाती है।

प्रथमाच्चापज्यार्धाद्यैरूनं खण्डितं द्वितीयार्धम्।
तत्प्रथमज्यार्धांशैस्तैस्तैरूनानि शेषाणि॥ १२॥

प्रथमात् चापज्यार्धात् द्वितीयार्धं खण्डितं विभक्तं लब्धैस्तैरेवांशैःद्वितीयार्धं ऊनं तदा द्वितीयखण्डंभवति। यस्य प्रथमज्यायाः योगेन च द्वितीयज्या सिद्धा भवति। एवं द्वितीयादिज्यार्धे तत्प्रथमज्यार्धांशैर्लब्धैस्तैस्तैरंशैः शेषाणि खण्डानि ऊनानि तदा तृतीयादिखण्डानि भवन्ति। प्रत्येकखण्डस्य तत्पूर्वज्यायाः योगेन चाग्रिमज्या सिद्धा भवति। एवमनेन प्रकारेण वृत्तपादे चतुर्विंशतिज्यार्धानि सिद्धानि भवन्ति।

अत्रोपपत्तिः ।

वृत्तस्यैकपादस्य नवत्यंशमितस्य चतुर्विंशत्य : २२५ कलाः भवन्ति । द्वितीयांशः ४५० कलाः तृतीयांशः ६७५ कलाः एवं अंशाः भवन्ति । तेषां ज्या साध्यन्ते । अर्धज्या अर्थात् द्विगुणितचापपूर्णज्यार्धं अर्धज्या भवति अर्धज्यैवात्र ज्याभिधाना ज्ञेया ।

अथ गोलस्य षण्णवत्यंशो दण्डवत् दृश्यते इति प्राचीनोक्त्या २२५ कलाः गोलस्य षण्णवत्यंशः तत्र ज्याचापयोरभेदो दृश्यते तेन एषां कलानां प्रथमा ज्या तत्तुल्यैव, अथ द्वितीयज्यादिसाधने युक्तिर्दीयते ।

कल्प्यते अत्रोव वृत्तपादः यत्र वर = स र = २२५, सव ४५० चापस्य पूर्णज्या । वख = सख = रथ = पच = प्रथमज्या, सच = द्वितीयज्या, खर = प्रथमोत्क्रमज्या । २ टच = पच + पस = प्रथमज्या + प्रथमखण्ड । यतः सट = चट = चप − पट = प्रथमज्या − पट तथा सट = सप + पट

$\therefore$ सप = सट − पट = प्रथमज्या − पट − पट = प्र.ज्या − २पट = प्र.ज्या − २ र क ।

ओरथ, खरक त्रिभुजयोः साजात्यात्

$\therefore$ रक = $\frac{\text{रथ} \times \text{रख}}{\text{ओ र}}$ = $\frac{\text{प्रज्या} \times \text{प्रउज्या}}{\text{त्रि}}$

$\therefore$ २ रच = २ $\frac{\text{प्रउज्या} \times \text{प्रज्या}}{\text{त्रि}}$ = $\frac{\text{उप्रथया}}{\frac{\text{त्रि}}{\text{२ प्रउज्या}}}$ = $\frac{\text{प्रथज्या}}{\text{२२५}}$ = $\frac{\text{प्रज्या}}{\text{प्रज्या}}$ स्वल्पान्तरात्

अनेनोनं प्रज्या—२ रक = प्रज्या—२ पट = सप प्रथमखण्डम्

$\therefore$ प्रज्या + सप = चप + सप = द्वितीयज्या

इत्युपपन्नम्
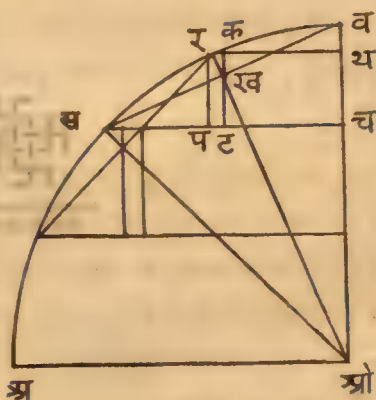
एवं तृतीयज्यासाधनेऽपि तदेवान्तरं $= \frac{\text{द्वितीय ज्या} \times \text{प्रथमज्या}}{\text{त्रि.}}$

$$२ \text{ अं} = \frac{\text{द्विज्या} \times २ \text{ प्रथज्या}}{\text{त्रि.}} = \frac{\text{द्विज्या}}{\frac{\text{त्रि.}}{२ \text{ प्रथज्या}}} = \frac{\text{द्विज्या}}{\text{प्रज्या}}$$

द्विज्या—लब्धमूनं तदा द्वितीयखण्डमवशिष्यते अतः द्विज्या + २खण्ड = तृतीयज्या एवं सर्वाः ज्याः साधिता भवन्ति ।

अत उपपन्नं सर्वम्

अत्र प्रकारान्तरेणोपपत्तिर्यथा

चतुर्विंशज्यापिण्डेषु कल्प्यते काचिज्ज्या = ज्या इ

तदा ज्यागत = ज्या (इ–प्र), एष्यज्या = ज्या (इ + प्र) अत्र प्र = २२५

ततो गतखण्डम् = गख = ज्याइ—ज्या (इ–प्र)

एष्य खण्डम् = ए ख = ज्या (इ + प्र)—ज्याइ तदा त्रिकोणमित्या

गख–एख = {ज्याइ–ज्या (इ–प्र)—ज्या (इ + प्र)–ज्याइ}

$$= \text{ज्याइ} - \frac{(\text{ज्याइ कोज्याप्र} - \text{ज्याप्र कोज्याइ})}{\text{त्रि}} - \frac{(\text{ज्याइ कोज्याप्र} + \text{ज्याप्र कोज्याइ})}{\text{त्रि}} + \text{ज्याइ}$$

$$= \frac{२ \text{ ज्याइ} \times \text{त्रि} - २ \text{ ज्याइ कोज्या प्र}}{\text{त्रि}}$$

$$= \frac{२\text{ज्याइ.} \times \text{उज्याप्र}}{\text{त्रि}} = \frac{\text{ज्याइ}}{\frac{\text{त्रि}}{२ \text{ उज्याप्र}}} = \frac{\text{ज्याइ}}{\text{ज्याप्र}} \text{ स्वल्पान्तरात्}$$

इत्युपपन्नम्

भा०

अब प्रत्येक जीवा जानने के लिये एक साधारण प्रकार बतलाते हैं :—

प्रथम ज्यार्धं को प्रथम ज्यार्धं से भाग दें जो लाभ हो उसको प्रथम ज्यार्धं में घटा दें तो द्वितीय खण्ड हो जाता है। इस खंड को प्रथम ज्यार्धं में जोड़ने से द्वितीय

ज्या सिद्ध होती है। इस प्रकार द्वितीयादि खंड से प्रथमज्या को भाग दें जो लाभ हो उसको उसी खंड में घटाने से द्वितीयादि खण्ड बनते जाते हैं उसे द्वितीय ज्या में जोड़ने से तृतीय ज्या बन जाती हैं। इस प्रकार चौबीसों ज्या खण्ड तथा जीवाओं का साधन हो जाता है।

इसकी उपपत्ति क्षेत्र तथा गणित से पूर्व ही प्रदर्शित है।

वृत्तं भ्रमेण साध्यं त्रिभुजश्च चतुर्भुजश्च कर्णाभ्याम्।
साध्या जलेन समभूरध ऊर्ध्वं लम्बकेनैव ॥१३॥

भ्रमेण भ्रमणकारकयन्त्रेण कर्कटाख्येन वृत्तं साध्यं रचनीयं त्रिभुजं च कर्णेन साध्यं। भूमौ कर्णं संस्थाप्य कर्णार्धव्यासार्धेन यद्वृत्तं तस्य परिधौ कर्णाग्राभ्यां सूत्रे नेये तदा जात्यत्रिभुजमुत्पन्नं भवति। अथवा कर्णरूपमेकभुजं स्थापयित्वा तदग्राभ्यां शिष्टभुजद्वयव्यासार्धेन ये वृत्ते तयोर्योगे कर्णाग्राभ्यां सूत्रे प्रसारिते अभीष्टत्रिभुजं निष्पन्नं भवति।

एवं भूमौ कर्णं स्थापयित्वा तदग्राभ्यामुभयदिशि पूर्ववत् भुजौ स्थाप्यौ तदा चतुर्भुजं निष्पन्नं भवति। एवं द्वितीयात्कर्णादपि त्रिभुजनिर्माणं भवति।

जलेन जलपरीक्षया समभूः समा पृथिवी साध्या करणीया। समभूमौ जलप्रक्षेपणेन यदि जलं स्थिरं भवति तदा भूः समेति ज्ञातव्या। यदि कस्यामपि दिशायां जलं प्रवहति तदा तत्र निम्नता बोध्या। पृथिव्याः समीकरणाय अमुमेव दृष्टान्तं मत्वा अन्येऽपि ग्रन्थकाराः जलवत् समीकृतायां भूमावित्यादि प्रोचुः। परन्तु जलं स्वयं गोलवस्तु न दर्पणोदरसन्निभं समं तदा तेन समत्वकरणं कथं साधु भवतीति नवीनानामाक्षेपः।

लम्बकेन लम्बकयन्त्रद्वारा अधः ऊर्ध्वमित्यस्य ज्ञानं सुगमेन भवति। समद्विबाहुकरूपमिदं यन्त्रं यस्य मध्ये अवलम्बसूत्रं गुरु वस्तु बध्दाग्रं भवति। यद्यवलम्बसूत्रं मध्ये पतति तदा भूः समा। आधारस्य मध्यादन्यत्र बिन्दौचेत् पतति तदावलम्बाग्रादल्पान्तरे अधः दूरान्तरे उर्ध्वं स्थानं भवति।

भा०

कारकाटक यंत्र को घुमाने से वृत्तक्षेत्र बनता है। त्रिभुज बनाने की रीति यह है कि यदि कर्ण ज्ञात है तो कर्णार्ध बिन्दु से कर्णार्ध व्यासार्ध से एक वृत्त बनाइये। उसकी परिधि में कर्णाग्रों से रेखा ले जाइये तो वह एक जात्यत्रिभुज हो जायगा। अथवा एक कर्णाग्र से एकभुजव्यायार्ध से वृत्त खींचिये। कर्ण के दूसरे अग्र से द्वितीय भुज व्यासार्ध

से दूसरा वृत खींचिये, दोनों वृत का जहाँ योग हो वहाँ कर्णाग्र से रेखा ले जाने पर भी त्रिभुज बन जाता है। दोनों कर्णों से चतुर्भुज बनाने की प्रक्रिया यह है कि पहले एक कर्ण के दोनों अग्र से दो भुजों के व्यासार्ध से वृत्त बनाकर वृत्त योग में प्रथम दोनों कर्णाग्र से दो रेखायें कीजिये। फिर दोनों भुजों के योग विन्दु से द्वितीयकर्णव्यासार्ध वृत्त कीजिये और प्रथम कर्णाग्र से तृतीय भुज व्यासार्ध वृत्त का द्वितीय कर्णव्यासार्ध वृत्त से जहाँ योग हो वहाँ प्रथम दोनों कर्णाग्र से रेखा करने पर चतुर्भुज बन जाता है।

जल से समान पृथ्वी का ज्ञान किया जाता है। समान पृथ्वी पर जल दीजिये वह स्थिर रहे तो पृथ्वी समान समझना चाहिये। अगर किसी ओर बहे तो उधर नीच समझना चाहिये। एवं अवलम्बसूत्र से अध उर्ध्व का ज्ञान करना चाहिये। एक समद्विबाहुक त्रिभुज में मध्य में अवलम्बसूत्र लटका हुआ रहेगा। उसके अग्र में कोई गुरू वस्तु बन्धी रहेगी। मध्य सूत्र मध्य में पड़े तो भू समान होती है नहीं इधर उधर अवलम्बसूत्र जाय तो असमान समझे। कारीगर लोग घर बनाने में इस अवलम्ब सूत्र का आजकल उपयोग करते है।

शङ्कोः प्रमाणवर्गं छायावर्गेण संयुतं कृत्वा।
यत्तस्य वर्गमूलं विष्कम्भार्धं स्ववृत्तस्य॥ १४

अत्र शंकुस्तथा निवेश्यो येन छायाग्रं वृत्तमध्ये पतति अथवा शंकग्रं वृत्तमध्ये निवेश्यं तदा छाया^{2} + शंकु^{2} = कर्ण^2 अास्यमूलं = छायाकर्णवृत्ते वृत्त-व्यासार्धम् भवति।
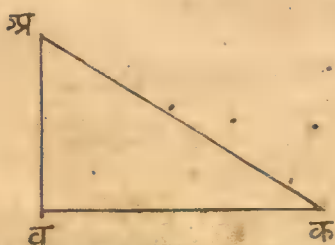
अव = शंकुः, वक = छाया, अक = व्यासार्धम्। छायाकर्णवृत्तव्यासार्ध-मित्यर्थः।

भुजवर्गकोटिवर्गयोगः कर्णवर्ग समो भवतीत्यस्योपपत्तिः २।४७ क्षेत्रेण स्फुटा वा भास्करीयबीजगणिते प्रकाराभ्यामस्योपपत्तिः प्रदर्शितास्ति।

भा०

शंकुवर्ग में छायावर्ग को जोड़ दें उसका मूल छायाकर्ण होगा। छायाकर्ण व्यासार्ध से जो वृत्त होगा उसका वह व्यासार्ध होगा।

यहाँ शंकु को इस प्रकार रखें कि छायाग्र केंन्द्र में पड़े अथवा पृथ्वी के नीचे द्वादशाङ्गुल तुल्य भूमि काटकर उस पर शंकु को रखें जिसमें शंकग्र केन्द्र में हो वहाँ जो छायाकर्ण होगा उसके व्यासार्धसे वृत्त बनावे तो वह छायाकर्णगोल का व्यासार्ध होगा।

शङ्कुगुणं शङ्कुभुजाविवरं शङ्कुभुजयोर्विशेषहृतम् ।
यल्लब्धं सा छाया ज्ञेया शङ्कोः स्वमूलाद्धि ॥१५॥

शङ्कुभुजाविवरं अर्थात् शङ्कुतो यावन्मिते स्थाने भुजोऽस्ति तत् दूरान्तरं शङ्कुगुणं शङ्कुभुजयोर्विशेषेण हृतं भक्तं यल्लब्धं सा शङ्कोः स्वमूलात् हि छाया भवति ।
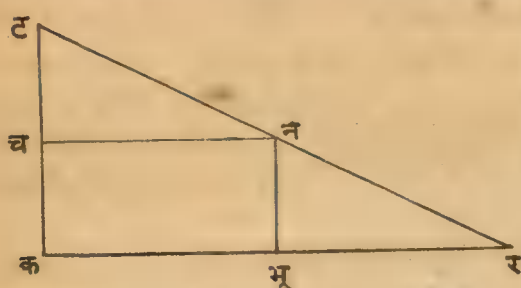
अत्र कट भुजः = दीपौच्च्यम्, भून = शंकुः, भूर = छाया, कभू = चन = शंकुभुजाविवरम् । चट = भु − शं = शंकुभुजयोर्विशेषः ।

टचन, रभून त्रिभुजयोः साजात्यात्

$$\text{छाया} = \text{भूर} = \frac{\text{चन} \times \text{भून}}{\text{चट}} = \frac{\text{शंकुभुजाविवर} \times \text{शं}}{\text{शंकुभुजविशेष}}$$

इत्युपपन्नम् ।

भा०

शंकु स्थान भुजस्थान के अन्तर को शंकु से गुण दें, शंकु भुज दोनों के अन्तर से भाग दें तो छाया आती है ।

यहाँ क्षेत्र में कट रूप दीपौच्चय या दीयठ है जिसपर दीया है । इसी को भुज कहते हैं । भून शंकु है । अतएव भूर छाया है । भूक भुजमूल और शंकुमूल का अंतर है । चट भुज शंकु का अन्तर है ।

नचट, रभून दोनों त्रिभुज सजातीय हैं इसलिये त्रैराशिक लगाया कि शंकु भुज दोनों के अन्तर में दोनों के मूलान्तर प्राप्त करते हैं तो शंकु में क्या लब्धि छाया मिलेगी ।

छायागुणितं छायाग्रविवरमूनेन भाजिता कोटी ।
शङ्कुगुणा कोटी सा छायाभक्ता भुजा भवति ॥१६

छायाग्रविवरं छायाग्रान्तरं छायागुणितं ऊनेन छाययोरन्तरेण भाजिता कोटी भवतः अर्थात् छायाग्रान्तं प्रथमछायया गुणितं छाययोरन्तरेण भक्तं

प्रथमा कोटि :, एवं छायाग्रान्तरं द्वितीयछायया गुणितं छाययोरन्तरेण भक्तं द्वितीया कोटिर्भवति । सा कोटि : शंकुगुणा छायाभक्ता तदा भुजो भवति ।

अत्रोपपत्तिः
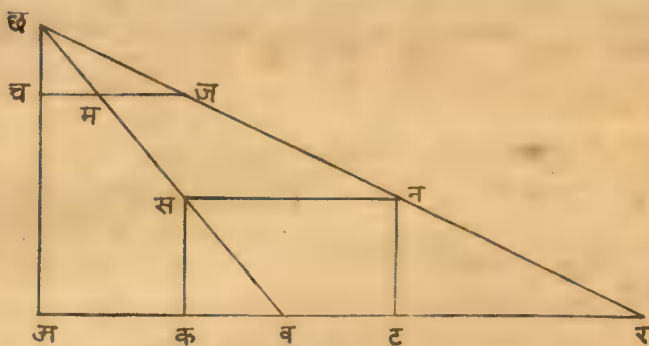
कल्प्यते अछ = दीपौच्यं भुजः

अव = प्रथमा कोटि :, अर द्वितीया कोटि :

कस = टन = शंकु :

कव = प्रथमछाया

टर = द्वितीया छाया

चज, अर समानान्तरा कार्या

यत्र च छ = १ कल्पयते

तदा कवस, चमछ क्षेत्रयोः साजात्यात्

$$कव = प्रछा = \frac{चम \times कस}{चछ} = \frac{चम.शं}{१} = चम.शं. \quad \therefore चम = \frac{प्रछा}{शं.}$$

एवं चछज, टनर त्रिभुजयो : साजात्यात्

$$टर = द्वि\cdot छा = \frac{च ज \times ट न}{च छ} = चज.शं.$$

$$\therefore चज = \frac{द्वि.छा}{शं}$$

$$\therefore चज - चम = जम = \frac{द्वि.छा - प्र.छा.}{शं}$$

अथ अछर, चछज त्रिभुजयो : साजात्यात्

$\frac{चछ}{अछ} = \frac{जछ}{रछ}$ तथा अवछ, चमछ त्रिभुजयो : साजात्यात्

$\frac{चछ}{अछ} = \frac{चम}{अव}$ अतः $\frac{जछ}{रछ} = \frac{चम}{अव}$ अथ वरछ, मजछ त्रिभुजयो :

साजात्यात्

$$\frac{जछ}{रछ} = \frac{जम}{रव} = \frac{द्वि.छा - प्र.छा}{शं.\ रव} - \frac{द्वि.छा - प्र.छा}{शं \times छायाग्रान्तर}$$

परन्तु $\frac{जछ}{रछ} = \frac{चम}{अव}$

यतः $\frac{\frac{प्रछा}{शं}}{प्र.को.} = \frac{चम}{अव}$

अतः $\frac{द्वि.छा - प्र.छा}{शं. \times छायाग्रान्तर} = \frac{प्र.छा}{शं \times प्र.को.}$

$\therefore$ प्रथमाकोटि $:= \frac{प्र.छा \times छायाग्रान्तर}{द्वि.छा - प्र.छा.}$

एवं $\frac{चज}{अर} = \frac{द्वि.छा}{शं} = \frac{जछ}{रछ} = \frac{द्वि.छा - प्र.छा}{शं.छायाग्रान्तर}$

अतः द्वितीया कोटि $:= \frac{द्वि.छा \times छायाग्रान्तर}{द्वि.छा - प्र.छा}$ इत्युपपन्नं प्रथमार्धम्

एवं अवछ कवस त्रिभुजयो : साजात्यात्

अछ = भुज $:= \frac{शं \times प्र.को}{प्र.छा}$ तथा अरछ, टरन त्रिभुजयो : साजात्यात्

अछ = भुज $:= \frac{शं \times द्वि.को.}{द्वि.छा}$ इत्युपपन्नं सर्वम् ।

भा०

छायाग्रान्तर को छायासे गुणदें छायान्तरसे भागदें तो कोटि मिलती है। कोटिको शंकुसे गुणदें छायासे भाग दें तो भुज मिलता है। यहाँ क्षेत्र में अछ दीपौच्य या भुज है। कस प्रथमशंकु तथा टन द्वितीयशंकु है। अब प्रथम कोटि तथा अर द्वितीय कोटि है। कब प्रथमा छाया तथा टर द्वितीया छाया है। वर छायाग्रान्तर है। शेष उपपत्ति उपर में स्पष्ट है।

यश्चैव भुजावर्गः कोटीवर्गश्च कर्णवर्गः सः।

वृत्ते शरसंवर्गोऽर्धज्यावर्गः स खलु धनुषोः ॥ १७ ॥

यश्च भुजवर्गः कोटिवर्गश्च यः तयोर्योगः कर्णवर्गसमो भवति। अत्रोपपत्तिः (रे १।४७) तथा भास्करीयबीजगणिते स्पष्टा। वृत्ते धनुषोः शरसंवर्गः शरयोर्घातः यः स एव खलु अर्धज्यावर्गः स्यात्तयोश्चापयोरर्धज्यावर्गतुल्यो भवति।

कल्प्यते अकव वृत्तस्य केन्द्रं ओ तथा टकर चापस्य पूर्णज्या ट र अर्धज्या ट व, वक तथा अव शरः

अतः अर्धज्या^{2} = टव^2 = ओट^2 − ओव^2 = (ओ ट + ओ व) (ओ ट − ओ व) = अ व × व क = शरसंवर्ग इत्युपपन्नम्।
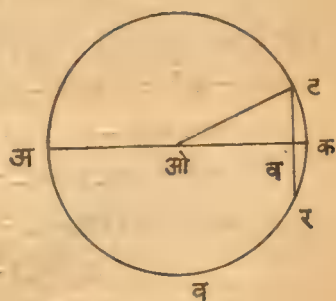
भा०

भुजवर्ग में कोटिवर्ग को जोड़ दें तो कर्णवर्ग होता है। वृत्त में दो शरों का गुणन दोनों चाप की अर्धज्या के वर्ग के समान होता है।

जैसे ऊपर के वृत्त में ट क र और ट अ र दो चाप है दोनों की पूर्ण ज्या एक ही टर के तुल्य है तथा टव अर्धज्या है। ट क र चाप का शर वक तथा ट अ र चाप का शर वअ है इसलिए इन दोनों शरों का गुणनफल अर्धज्यावर्ग के समान होता है। अर्धज्या^{2} = व ट^2 = ओ ट^2 − ओ व^2 = (ओट + ओ व) (ओ ट − ओव) = अ व × वक यही अभीष्ट था।

ग्रासोने द्वे वृत्ते ग्रासगुणे भाजयेत् पृथक्त्वेन ।
ग्रासोनयोगभक्ते संपातशरौ परस्परतः ॥ १८ ॥

अन्योन्यागतयोः वृत्तपरिधिभागयोर्मध्यगतमन्तरालं ग्रास इत्युच्यते विशेषतस्तन्मध्यरेखेत्युच्यते । वृत्तशब्देन च वृत्तव्यासोऽवबुध्यते । ग्रासोने द्वे वृते ग्रासगुणे गासोनयोगभक्ते तदा परस्परतः संपातशरौ परिधियोगद्वयगतसमस्तजीवा पूर्णज्या मध्ये उभयपार्श्वगतौ शरावित्यर्थः भवतः ।

कल्प्यते महद्वृत्तस्य केन्द्रं के, लघुवृत्तस्यकेन्द्रं के', शरः नम, नर = ग्रासः लघुवृत्तस्य व्यासः व्या, महद्वृत्तस्य व्यासः व्या'

कल्प्यते शरः = या, तदा ग्रा − या = म र = महद्वृत्तस्य शरः

तदा मट² = अर्धज्या² =

(व्या − या) या = (ग्रा − या) {व्या¹ − (ग्रा − या)}

व्या. या − या² = ग्रा व्या¹ − या व्या¹ − (ग्रा² + या² − २ या. ग्रा)
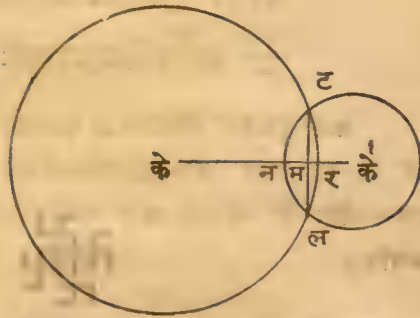
= ग्रा. व्या¹ − या. व्या¹ − ग्रा² − या² + २ या. ग्रा पक्षान्तरानयनेन

व्या. या + या. व्या¹ − २ या. ग्रा = ग्राव्या¹ − ग्रा²,

अथवा, या (व्या − ग्रा + व्या¹ − ग्रा) = ग्रा (व्या¹ − ग्रा)

अतः या = $\frac{\text{ग्रा (व्या}^1 - \text{ग्रा)}}{\text{व्या} - \text{ग्रा} + \text{व्या} - \text{ग्रा}}$ इत्युपपन्नम्

अथवा यदि महद्वृत्तस्यैव शरानयनमभीष्टं तदा तस्यैव मानं या कल्प्यते तदा अर्धज्या² = (व्या¹ − या) या = {व्या − (ग्रा − या)} (ग्रा − या)

व्या¹. या − या² = व्या. ग्रा − व्या. या − (ग्रा² + या² − २ ग्रा. या)

= व्या. ग्रा − व्या. या − ग्रा² − या² + २ ग्रा. या

वा, व्या.¹ या + व्या या − २ ग्रा. या = व्या. ग्रा − ग्रा²

वा, या (व्या¹ − ग्रा + व्या − ग्रा) = ग्रा (व्या − ग्रा)

∴ या = $\frac{\text{व्या} - \text{ग्रा}}{\text{व्या}^1 - \text{ग्रा} + \text{व्या} - \text{ग्रा}}$ इत्युपपन्नं सर्वम्

भा०

एक वृत्त यदि दूसरे वृत्त से कटता हो तो दोनों वृत्त के मध्यवर्त्ती खण्ड ग्रास कहलाता है विशेषकर मध्यवर्त्ती रेखा को ग्रास कहते हैं। वृत्त शब्द से यहाँ वृत्तव्यास अभीष्ट अर्थ है। ग्रास घटे हुए दोनों वृत्त व्यास को ग्रास से गुण दें ग्रासोनव्यास, ग्रासयुक्तव्यास के योग से अलग-अलग भाग देनें से पृथक-पृथक शर होते हैं। अर्थात् वृत्तद्वययोगगत रेखा के मध्य से दोनों ओर का शर होता है।

ऊपर के क्षेत्र में लघुवृत्त का शर = नम, नर = ग्रास, महद्वृत्त का शर = मर है।

इष्टं व्येकं दलितं सपूर्वमुत्तरगुणं समुखमध्यं।
इष्टगुणितमिष्टधनं त्वथवाद्यन्तं पदार्धहतम् ॥ १६ ॥

अत्रान्वयः एवं करणीयः। इष्टं व्येकं उत्तरगुणं सपूर्वं तदान्त्यधनं भवति। तत् समुखं आदिना सहितं दलितं तदा मध्यधनं भवति। तन्मध्यधनं इष्टगुणितं तदा इष्टधनं सर्वधनं भवति। अथवाद्यन्तं आद्यधनअन्त्यधनयोर्योगं पदार्धहतं पदार्धेन गुणितं तदापि सर्वधनमेव भवति।

अत्रोपपत्तिः।

आ + (आ + च) + (आ + २च + ...{आ + (प − १)च}

एषां योगोऽभीष्टः। अतोऽत्रान्त्यधनम् = आ + (प-१) च

ततो मध्यधनम् $= \frac{\text{आ} + \text{आ} + (\text{प} - १)\text{च}}{२}$

अतः सर्वधनम् = मध्यधन × पद $= \frac{२\{\text{आ} + (\text{प} - १)\text{च}\}\ \text{प.}}{२}$

प्रकारान्तरेणोपपत्तिः।

उदाहरणानुसारेण

स.ध = आ + (आ + च) + आ + २ च) + ... + {२आ + (प − १) च}

= आ + आ + आ + ...पदपर्यन्तं + {१ + २ + ३ + ...(प − १)} च

$$= प \times आ + \left\{ \frac{(प-१) प}{२} \right\} च$$

$$= \frac{२प.आ + (प-१) च.प}{२}$$

$$= \frac{प}{२} \left\{ आ + आ + (प-१) च \right\}$$

इत्युपपन्नं सर्वधनानयनम् ।

संकलितानयने तु

१, २, ३, ४..............प एषां योगोऽभीष्टः

वा उत्क्रमस्थापनेन प, प − १, प − २, प − ३........१ अनयोर्योगो द्विगुण संकलितसमस्तेन

$$२ सं = (प+१) प$$

अतः $सं = \frac{(प+१) प}{२}$ इत्युपपन्नं संकलितानयनम्

भा०

इष्ट में एक घटाकर चय से गुण दें तथा उसमें आदि जोड़ दें तो अन्त्यधन हो जाता है। उस अन्त्यधन में आदि जोड़ दें और उसका आधा करें तो मध्यधन हो जाता है। उस मध्यधन को इष्ट से गुण दें तो सर्वधन हो जाता है।

अथवा आद्यन्त धन के योगको पद के आधे से गुण दें तो भी सर्वधन हो जाता है।

गच्छोऽष्टोत्तरगुणिताद् द्विगुणाद्युत्तरविशेषवर्गयुतात् ।
मूलं द्विगुणाद्यूनं स्वोत्तरभाजितं सरूपार्धम् ॥ २० ॥

अष्टोत्तरगुणितात् (सर्वधनात्) अष्टभिः उत्तरेण चयेन च गुणितात् द्विगुणाद्युत्तर विशेषवर्गयुतात् द्विगुणादेः उत्तरस्य च यदन्तरं तस्य वर्गेण युतात् मूलं ग्राह्यं तन्मूलं द्विगुणाद्यूनं द्विगुणोनादिना हीनं स्वोत्तरभाजितं चयेन भक्तं सरूपं तस्यार्धं तदा गच्छः पदो भवतीत्यर्थः। सर्वधनज्ञानात् गच्छानयनमिदम् ।

अत्रोपपत्तिः ।

पूर्वसूत्रानुसारतः

$$स.घ = \left\{ \frac{(प-१)च + २आ}{२} \right\} प$$

$$वा, ८ स.घ = ४ (प-१) च.प + ८ आ. प$$

$$वा, ८ च.स = ४ च^२. प (प-१) + ८ आ. प. च = ४ च^२ प^२ - ४ च^२ प + ८ आ. प. च$$

$$वा, ८ च. स + (२ आ - च)^२ = ४ च^२ प^२ - ४ च^२ प + ८ आ. प. च + ४ आ^२ + च^२ - ४ आ. च = (२ च.प + २ आ - च)^२$$

$$अतः \sqrt{८ च.स + (२ आ - च)^२} = २ च. प + २ आ - च = २आ + च(२प - १)$$

$$\therefore \frac{मू - २ आ}{च} = २ प - १$$

$$\therefore \frac{\frac{मू - २ आ}{च} + १}{२} = प$$ इत्युपपन्नम् ।

भा०

सर्वधन को अष्ट गुणित चय से गुण दें, द्विगुणित आदि तथा चय के अन्तर के वर्ग उसमें जोड़ दें उसका मूल लें उसमें द्विगुणित आदि घटा दें, चय से भाग दें उसमें रूप जोड़ दें तब दो से भाग देने पर गच्छ का प्रमाण होता है।

एकोत्तराद्युपचितेर्गच्छाद्येकोत्तरत्रिसंवर्गः ।
षड्भक्तस्स चितिघनस्सैकपदघनो विमूलो वा ॥ २१ ॥

गच्छाद्येकोत्तरत्रिसंवर्गः गच्छाद्येकोत्तरत्रयाणामङ्कानां गुणनरूपः षट् भक्तस्तदा स एकोत्तराद्युपचितेः चितिघनः स्यात् अर्थात् संकलितैक्यं भवति । पदपर्यन्तस्य वा, सैक-पदघनः विमूलः सैकपदसहेतः । षड् भक्तस्तदापि चित्तिघनः अर्थात् संकलितैक्यं भवति संकलितरूपस्य चितेःघन इत्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः ।

१+१+१+१+.......पदसमः

$१+२+३+ \ldots + प = \frac{प}{२}(प+१)$ इति तु पूर्वमेव साधितं संकलितं

अथ $१+३+६+१०+१५+ \ldots प$. एषां संकलितैक्यानां योगे विचारः

कल्प्यते एषांयोगः $=$ या $प^३ +$ का $प^२ +$ नी. प

अतोऽत्र संकलितैक्यम् $=$ या $प^३ +$ का $प^२ +$ नी प.

अत्र पद्मानस्य एकद्वित्रिकल्पनया यदि $प=१$

तदा सं. ऐ $= १ =$ या. $१ +$ का $१ +$ नी १ अतोऽत्र या मानं $= १ -$ का $-$ नी $\ldots (१)$

यदि $प=२$

तदा सं. ऐ $= ४ = ८$ या $+ ४$ का $+ २$ नी अतः या $= \frac{४ - ४ \text{ का} - २ \text{ नी}}{८}$

$$= \frac{२ - २ \text{ का} - \text{नी}}{४} \ldots (२)$$ एवं यदि $प = ३$

सं. ऐ $= १० = २७$ या $+ ९$ का $+ ३$ नी अतः या $= \frac{१० - ९ \text{ का} - ३ \text{ नी}}{२७} \ldots (३)$

(१), (२) अनयोः समीकरणेन

$$८ - ८ \text{ का} - ८ \text{ नी} = ४ - ४ \text{ का} - २ \text{ नी}$$

$$\therefore \text{का} = \frac{४ - ६ \text{ नी}}{४} = \frac{२ - ३ \text{ नी}}{२} \ldots (४)$$

(१), (३) अनयोः समीकरणेन $२७ - २७$ का $- २७$ नी $= १० - ९$ का $- ३$ नी

$$\text{का} = \frac{१७ - २४ \text{ नी}}{१८} \ldots (५)$$

(४), (५) अनयोः समीकरणेन $१७ - २४$ नी $= १८ - २७$ नी

$\therefore$ नी $= \frac{१}{३}$ ततः का $\frac{१}{२}$, या $= \frac{१}{६}$

एभिर्मानैरुत्थापनेन जातं संकलितैक्यमानं

$$\text{सं. ऐ} = \frac{१}{६}\text{प}^३ + \frac{१}{२}\text{प}^२ + \frac{१}{३}\text{प} = \frac{\text{प}^३ + ३\text{प}^२ + २\text{प}}{६}$$

$$= \frac{\text{प}^३ + \text{प}^२ + २\,\text{प}^२ + २\text{प}}{६} = \frac{\text{प}^२\,(\text{प} + १) + २\,\text{प}(\text{प} + १)}{६}$$

$$= \frac{(\text{प} + १)\,(\text{प}^२ + २\,\text{प})}{६} = \frac{\text{प}\,(\text{प} + १)\,(\text{प} + २)}{६}$$ इत्युपपन्नं प्रथमार्धम्

एवं $$\frac{\text{प}^३ + ३\,\text{प}^२ + २\text{प}}{६} = \frac{\text{प}^३ + ३\,\text{प}^२ + ३\,\text{प} + १ - \text{प} - १}{६}$$

$$= \frac{(\text{प}^३ + ३\,\text{प}^२ + ३\,\text{प} + १) - (\text{प} + १)}{६}$$

$$= \frac{(\text{प} + १)^३ - (\text{प} + १)}{६}$$ इत्युपपन्नमुत्तरार्धम् ।

भा०

पद, एकयुत पद तथा दो युत पद इन तीनों के गुणनफल को छः से भाग देने पर एकादि उपचिति का चितिघन होता है अर्थात् एकादि पदान्त अङ्कों के संकलित का ऐक्य होता है। इसको आचार्य चितिघन कहते हैं अर्थात् संकलितरूप चिति का घन घनक्षेत्र होता है। पीछे के आचार्यों ने इसे संकलितैक्य कहा है। इसी आनयन का दूसरा प्रकार यह है कि सैक पद का घन करके उसमें सैकपद घटाकर छः से भाग देने पर भी वही चितिघन या संकलितैक्य सिद्ध होता है।

एकाद्यङ्कानां घनयोगानयनं यथा :—

सैकसगच्छपदानां क्रमात् त्रिसंवर्तितस्य षष्ठोंऽशः ।
वर्गचितिघनस्स भवेच्चितिवर्गो घनचितिघनश्च ॥२२॥

सैकसगच्छपदानां अर्थात् सैकपदं प्रथमराशिः सैकं सगच्छश्चपदं द्वितीयः पदं तृतीयः एषां मध्ये क्रमात् त्रिसंवर्गितस्य अर्थात् त्रयाणां राशीनां घातस्य

षष्ठोंऽशः वर्गचितिघनः वर्गरूपचितेः घनः वर्गैक्यमित्यर्थः भवेत् तथा चितिवर्गः अर्थात् चितेः संकलितस्यवर्गः घनचितघनः स्यात् अर्थात् घनरूपचितेः घनः एकाद्यङ्कानां घनैक्यमित्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः

कल्प्यते

$$प^3 - (प-१)^3 = प^3 - (प^3 - ३प^2 + ३प - १) = ३प^2 - ३प + १$$

$$(प-१)^3 - (प-२)^3 = (प^3 - ३प^2 + ३प - १) - (प^3 - ३प^2.२ + ३प.२^2 - १)$$

$$= ३(प-१)^2 - ३(प-१) + १$$

$(प-२)^3 - (प-३)^3$ ..., यद्वा व्यक्तरीत्या $५^3 - ४^3 = ३\cdot५^2 - ३\cdot५ + १$

$$४^3 - ३^3 = ३\cdot४^2 + ३\cdot४ + १$$

$$३^3 - २ = ३\cdot३^2 - ३\cdot३ + १$$

Indira Gan
Centre f

$$२^3 - १^3 = ३\cdot२^2 - ३\cdot२ + १$$

$$१^3 - ०^3 = ३.१^2 - ३\cdot१ + १$$

यदि पक्षयोर्योगः क्रियते तदा

$$प^3 = ३(१^2 + २^2 + ३^2 + ४^2 + प^2प) - ३(१ + २ + \cdots प) + प$$

$$= ३ \text{ वर्गयोग} - ३ \text{ संकलित} + प$$

$$\text{अतः } ३ \text{ वर्गयोग} = प^3 + ३ \text{ संक} - प = प^3 + \frac{३(प+१)प}{२} - प$$

$$= \frac{२प^3 + ३प^2 + ३प - २प}{२} = \frac{२प^3 + ३प^2 + प}{२}$$

$$\therefore \text{ वर्गयोग} = \frac{२प^2(प+१) + प(प+१)}{२ \times ३} = \frac{(प+१)(२प^2 + प)}{६}$$

$$= \frac{(प+१)(२प+१)प}{६}$$

$$= \frac{प(प+१)\{प + (प+१)\}}{६} = \text{वर्गचितिघनः इत्युपपन्नं वर्गैक्यानयनम्}$$

घन योगे वासना यथा

कल्प्यते

$प^४ - (प-१)^४ = प^४ - (प^४ - ४ प^३ + ६ प^२ - ४ प + १)$

$= ४ प^३ - ६ प^२ - ४ प + १$

एवं $(प-१)^४ - (प-२)^४ = ४ (प-१)^३ - ६ (प-१)^२ + ४ (प-१) - १$

यदि पक्षयोर्योगः क्रियते तदा

$प^४ = ४$ घनयोग $- ६$ वर्गयोग $+ ४$ सं $-$ प, पक्षान्तरानयनेन ४ घनयोग $=$ $प^४ + ६$ वर्गयोग $- ४$ सं $+ प = प^४ + प (प+१) \quad (२ प + १) - २ प (प+१) + प$

$= प^४ + प (प+१) (२ प + १) - २ (प^२ + प) + प$

$= प^४ + प (२ प^२ + २ प + प + १) - २ प^२ - प$

$= प^४ + २ प^३ + प^२$

$= प^२ (प^२ + २ प + १)$

$= प^२ (प+१)^२$

अतः घनयोग $= \frac{प^२ (प+१)^२}{४} =$ संकलित$^२ =$ घनचितिघनः

इत्युपपन्नम्

भा०

पद, एकयुतपद तथा एकयुत पद में युत पद अर्थात् सैकद्विगुणपद इन तीनों के गुणन का छठा हिस्सा वर्गचितिघन अर्थात् पद तक वर्गैक्य होता है। एवं चिति अर्थात् संकलित का वर्ग घनचितिघन अर्थात् एकाद्यङ्क का घनैक्य होता है।

इस चिति की सूरत बनावें तो नीचे जो त्रिभुजाकार १० ईंटे रखें फिर दूसरे थर में ६ तीसरे थर में ३ और चौथे थर में १ तो यह त्रिभुजाकार चिति के आधार पर एक सूची होगी जिसमें सभी ईंटें = १ + ३ + ६ + १० होगी। इसमें जौं थर = पद = प तो

$$१ + ३ + ६ + १० \cdots + \frac{प (प+१)}{२} = \frac{प (प+१) (प+२)}{६}$$

इस चितिघन से समझ पड़ता है कि पटना के रहने वाले आर्यभट ने बौद्धों की समाधि के उपर बनी हुई ऐसी सूचियों को देखा था। इसीलिये उनमें लगे हुए ईंटों की गिनती चितिघन के नाम से निकाली है।

इनके मत से वर्गचितिघन $= \frac{प (प+१) (२ प + १)}{६}$

तथा घनचितिघन $= \left\{ \frac{प (प+१)}{२} \right\}^२$

* सुधाकरद्विवेदीकृत गणित का इतिहास।....

संपर्कस्य हि वर्गाद्विशोधयेदेव वर्गसंपर्कम् ।
यत्तस्य भवत्यर्धं विद्याद्गुणकारसंवर्गम् ॥ २३ ॥

द्वयोः राश्योर्योगः संपर्कः तस्य वर्गात् अर्थात् युतिवर्गात् वर्गसंपर्कं राश्योः वर्ग योगं विशोधयेत् तदा तस्य शेषस्य यदर्द्धं तद्गुणकारसंवर्गं राश्योर्घाततुल्यं विद्यात् जानीयात् ।

कल्प्यते राशी $\text{रा}, \text{रा}'$

तदा $\text{संपर्क}^2 = (\text{रा}+\text{रा}')^2 = (\text{रा}+\text{रा}')\,(\text{रा}+\text{रा}') = \text{रा}^2 + २\,\text{रा}\cdot\text{रा}' + \text{रा}'^2$

अतः $(\text{रा}+\text{रा}')^2 - (\text{रा}^2+\text{रा}'^2) = २\,\text{रा}\cdot\text{रा}'$

$$\therefore \quad \frac{(\text{रा}+\text{रा}')^2 - (\text{रा}^2+\text{रा}'^2)}{२} = \text{रा}\cdot\text{रा}'\text{.}$$ इत्युपपन्नम्

अथवा क्षेत्रगता वासना

अत्र अन $= \text{रा}$ नक $= \text{रा}'$

$\text{अक}^2 = (\text{रा}+\text{रा}')^2$

नक तुल्यं कह रेखां विधय हटच अक रेखायाः समानान्तरा रेखा कार्या एवं नत, कव रेखायाः समानान्तरा रेखा कार्या—

तदा कनटह क्षेत्रं $= \text{रा}'^2$

एवं रचटन क्षेत्रं रा^2

तथा अचटन $= \text{रा}.\text{रा}'$

एवं वतटह $= \text{रा}\ \text{रा}'$

तदा $\text{अक}^2 - \text{कन}^2 - \text{रव}^2 = (\text{रा}+\text{रा}')^2 = \text{रा}^2 - \text{रा}'^2 = २\,\text{रा}\,\text{रा}'$

अतः $\frac{(रा+रा')^2 - रा^2 - रा'^2}{२} = रा\,रा'$

इत्युपपन्नम्

भा

दो राशियों का योग संपर्क कहलाता है। संपर्क के वर्ग में अर्थात् युतिवर्ग में वर्गसंपर्क अर्थात् उन्हीं दो राशियों का वर्गयोग घटा दें उसका आधा करने से दोनों राशियों का गुणकारसंवर्ग अर्थात् गुणनफल रह जाता है।

कल्पना कीजिये कि ४, ५ दो राशि हैं तो इनका योग ६ हुआ, उसका वर्ग ८१ हुआ। इनमें दोनों का वर्गयोग १६ + २५ = ४१ घटा दिया तो ८१ − ४१ = ४० बचा। इसका आधा किया तो २० बचा। यही दोनों राशियों का गुणनफल है। इसकी उपपत्ति यही है कि $(अ + व)^2 = अ^2 + व^2 + २\,अ\,व$ इसमें $(अ^2 + व^2)$ घटा दिया तो २ अव बचा, द्विभक्त करने से अ × व शिष्ट रहा। इसी विषय को भास्कराचार्य ने अपनी बीजगणित में कहा है—

वर्गयोगस्य यद्राश्योर्युतिवर्गस्य चान्तरम्।
द्विघ्नघातसमानं स्यात् द्वयोरव्यक्तयोर्यथा।

द्विकृतिगुणाद् संवर्गाद् द्व्यन्तरवर्गेण संयुतान्मूलम्।
अन्तरयुक्तं हीनं तद्गुणकारद्वयं दलितम् ॥ २४ ॥

द्विकृतिगुणाद द्वयोः कृतिः वर्गः चतुः तेन गुणात् संवर्गात् द्वयोः राश्योर्घातात् द्व्यन्तरवर्गेण द्वयोः राश्योरन्तरवर्गेण संयुतात् मूलं राश्योर्युतिर्भवति। तत्-राश्योर्योगं राश्योरन्तरेण युक्तं तथा हीनं दलितं अर्धितं तदा गुणकारद्वयं कल्पितराशिद्वयं भवति।

अत्रोपपत्तिः।

अत्र कल्प्यते राशी रा, रा'

तदा $४रा.रा' + (रा - रा')^2 = ४\,रा.\,रा' + रा^2 + रा'^2 - २\,रा.रा'$

$= रा^2 + रा'^2 + २\,रा.रा' = (रा + रा')^2$ अस्यमूलं $= रा + रा'$

तदा $रा + रा' + (रा - रा') = २\,रा$ अस्यार्धं राशिः

एवं रा + रा' − (रा − रा') = २ रा' अस्यार्धं रा' इत्युपपन्नं ।

अतो भास्कराचार्यः

> चतुर्गुणस्य घातस्य युतिवर्गस्य चान्तरम् ।
> राश्यन्तरकृतेस्तुल्यं द्वयोरव्यक्तयोर्यथा ॥

भा०

दो राशियों के गुणन को ४ से गुण दें। उसमें उन्हीं दोनों राशियों के अन्तरवर्ग को जोड़ दें तो राशि के योग का वर्ग हो जाता है। उसका मूल लेने से राशियोग होता है। इस राशियोग में अन्तर को जोड़ कर आधा कीजिये तो बड़ी राशि होती है तथा योग में अन्तर को घटाकर आधा करने से छोटी राशि होती है। कल्पना किया कि संवर्ग २० राशि का अन्तर एक तव संवर्ग चतुर्गुणित किया तो ८० हुआ। इसमें अन्तरवर्ग १ जोड़ा तो ८१ मूल लेने से ९ यह राशियोग हुआ। इसमें अन्तर एक को जोड़ा आधा किया तो ५ बड़ी राशि और योग में अन्तर को घटाकर आधा करने से छोटी राशि ४ हुई।

> मूलफलं सफलं कालमूलगुणमर्धमूलकृतियुक्तम् ।
> मूलं मूलार्धोनं कालहृतं स्यात् स्वमूलफलम् ॥२५॥

मूलफलं मूलधनस्य फलं कलान्तरं सफलं कलान्तरस्यापि कलान्तरेण सहितं एवं रूपं मिश्रधनं कालेन इष्टसमयेन मूलधनेनच गुणं गुणितं तत्र अर्धमूल कृत्या मूलधनार्धवर्गेण युक्तं तस्य मूलं वर्गमूलं मूलार्धेन मूलधनार्धेन ऊनं हीनं कालहृतं तदा स्वमूलफलं अर्थात् मूलधनस्य कलान्तरं लभ्यते।

कल्प्यते मूलधनं = १०० तदा तस्यैकस्मिन् मासे कलान्तरं = या। तदास्य कलान्तरस्य इष्टमासे यत्कलान्तरं तेन सहितं पूर्वकलान्तरं यदि मिश्रधनं भवेत्तदा तस्मात् मूलधनस्य कलान्तरं साध्यते।

कलान्तरं या कालेन यदिगुण्यते तदा इष्टसमये कलान्तरस्य कलान्तरं

भवति या. काल अस्य कलान्तरं $= \dfrac{\text{या} \times \text{या. काल}}{\text{मू ध}}$

अत्र कलान्तरं संयोज्य मिश्रधनं क्रियते $\therefore \dfrac{\text{या}^2\ \text{काल}}{\text{मूध}} + \text{या}$

$$= \frac{\text{या}^2 \cdot \text{का} + \text{मूध}.\text{या}}{\text{मू ध}} = \text{मि० ध०}$$

$$\therefore \text{या}^2 \text{ का} + \text{मूध}\cdot \text{या} = \text{मूध}\cdot \text{मिध}$$

$$\text{वा, या}^2 \cdot \text{का}^2 + \text{मूध}\cdot \text{या}\cdot \text{का} + \left(\frac{\text{मूध}}{२}\right)^2 = \text{मूध}\cdot \text{मिध}\cdot \text{का} + \left(\frac{\text{मूध}}{२}\right)^2$$

$$\text{मूलेन या}\cdot \text{का} + \frac{\text{मूध}}{२} = \sqrt{\text{मूध}.\ \text{का}\cdot \text{मिध} + \left(\frac{\text{मू}}{२}\right)^2} = \text{मू}$$

$$\therefore \text{या} = \frac{\text{मू} - \frac{\text{मूध}}{२}}{\text{का}} \quad \text{इत्युपपन्नम्}$$

भा०

मूलधन के फल व्याज में फिर व्याज का व्याज जोड़ दें। ऐसा मिश्रधन जानकर व्याज लाने का उपाय यह है कि उस मिश्रधन को मुलधन और काल से गुणन करें तथा मूलधन के आधे का वर्ग जोड़ दें। उसका मूल लें उसमें भूलधन का आधा घटा दें तथा काल से भाग दें तो मूलधन का एक महीने का व्याज प्राप्त हो जाता है।

उदाहरण :—एक सौ रूपये का एक महीना में जो सूद हुआ वह सूद छः महीने में अपने सूद सहित १६) रूपये होते हैं तो सूद की दर क्या थी ?

अब इस निश्रधन १६ को मूलधन और काल से गुणा किया १६ × १०० × ६ = ६६०० इसमें मूलधन के आधे ५०) का वर्ग २५०० जोड़ दिया = ६६०० + २५०० = १२१०० हुआ। इसका वर्गमूल ११० हुआ। इसमें मूलधन का आधा ५०) घटा दिया = ११० − ५० = ६० हुआ। इसको काल ६ से भाग दिया = $\frac{६०}{६}$ = १० यह सूद आया। अब सूद का सूद $\frac{१० \times १०}{१००}$ = १) रू० अर्थात् १० रू० का एक महीन में १) रू० सूद हुआ ६: महीने में ६) रू०। इसमें पहला व्याज १०) रू० जोड़ दिया तो ६ + १० = १६) रू० मिश्रधन हुआ

त्रैराशिकफलराशिं तमथेच्छाराशिना हतं कृत्वा ।
लब्धं प्रमाणभाजितं तस्मादिच्छाफलमिदं स्यात् ॥ २६ ॥

त्रैराशिके यः फलाख्योराशिः तं त्रैराशिकफलराशिं इच्छाराशिना हतं कृत्वा गुणयित्वा प्रमाणेन भाजितं प्रमाणभाजितं तस्माद्यल्लब्धं तदिदं इच्छाफलं स्यात् ।

त्रैराशिके त्रीणि वस्तूनि भवन्ति इच्छा, प्रमाणं तथा फलराशिः प्रमाणफलं येन इच्छाफलं प्राप्यते ।

अत्र $\frac{\text{प्रमाणफल}}{\text{प्रमाण}} = \frac{\text{इच्छाफल}}{\text{इच्छा}}$

अतः $\frac{\text{प्रमाणफल} \times \text{इच्छा}}{\text{प्रमाण}}$ = इच्छाफल इत्युपपन्नम् ।

भा०

त्रैराशिक गणित में फलराशि को इच्छा राशि से गुणन कर दें तथा प्रणाम से भाग दें तो लब्ध वस्तु इछाफल होती है ।

तीन राशि जिस गणित में हो उसे त्रैराशिक कहेंगे । ये तीन राशियां हैं प्रमाण, प्रमाणफल और इच्छा, जैसे एक सौ पैसे में १० आम मिलते है तो साठ पैसे में कितने आम मिलेंगे ? यहाँ सौ पैसे प्रमाण है, दश आम प्रमाणफल है और साठ पैसे इच्छा है । साठ पैसे का जो आम मिलेगा वह इच्छाफल । इस त्रैराशिक में प्रमाण और इच्छा एक जाति की होती है, जैसे एक सौ पैसे प्रमाण एवं साठ पैसे इच्छा । प्रमाणफल भिन्न जाति का होता है, जैसे यहाँ दश आम । इच्छा ६० को प्रमाणफल १० से गुणन किया तो ६०० हुआ । इसको प्रमाण १०० से भाग दिया तो इच्छाफल ६ आन मिला ।

छेदाः परस्परहता भवन्ति गुणकारभागहाराणाम् ।
छेदगुणं सच्छेदं परस्परं तत्सवर्णत्वम् ॥ २७ ॥

गुणकारभागहाराणां गुण्य गुणकानां भाजकानां वा गुणन्ने छेदाः हराः परस्परहता परस्परगुणिता भवन्ति फलतोंऽशाः स्वत एव परस्परगुणिता भवन्ति । सछेदं सहरराशिं छेदगुणं हरांशौ परस्पर छेदगुणौ तदा तत्सवर्णत्वं सजातीयत्वं भवति । सजातीयतायां योगवियोगः सुखेन भवति ।

अत्रोपपत्तिः

कल्प्यते $य = \frac{अ}{क}$, $र = \frac{च}{छ}$ तदा $यक = अ$, $र.छ = च$

$\therefore\ य.क.र.छ = अ.च\ \therefore\ य.र = \frac{अ.च}{क.छ}$

एवं $\frac{य.क}{र.छ} = \frac{अ}{च}$ वा, $\frac{य}{र} = \frac{अ.छ}{क.च}$

इत्युपपन्नं प्रथमार्धम्।

कल्प्यते $रा = \frac{अ}{क}$, $रा' = \frac{ख}{ग}$

तदा $रा + रा' = \frac{अ}{क} + \frac{ख}{ग} = \frac{अ.ग}{क.ग} + \frac{ख.क}{क.ग} = \frac{अ.ग + ख क}{क.ग}$

इत्युपपन्नं परार्धम्

भा०

गुणन भजन में छेद को परस्पर गुण दें अर्थात् भिन्न राशि के गुणन में छेद को छेद से गुण दें फलतः अंश को अंश से गुण दें तब गुणनफल होता है। भागहार भजन में छेद का परस्पर गुणन अर्थात् एक के छेद से दूसरे के अंश को तथा दूसरे छेद से प्रथम अंश को गुणकर तब भाग क्रिया हो ऐसा अर्थ भासित होता है।

छेद सहित राशि अर्थात् भिन्न राशि में अंशहर दोनों को दूसरे के छेद से गुणन कर देने पर उनमें सवर्णत्व अर्थात् सजातीयता आती है तब सुखेन योग वियोग होता है।

गुणकारा भागहरा भागहरा ये भवन्ति गुणकाराः।
यः क्षेपसमोऽपचयोऽपचयः क्षेपश्च विपरीते॥ २८॥

विपरीते गणिते गुणकाराः गुणनाङ्काः भागहराः छेदाः कल्प्याः ये भागहरास्ते गुणकाराः कार्याः। यः क्षेपः योगः स अपचयः ऋणात्मकः। यः अपचयः स च क्षेपो योगो भवति तदा राशेः सिद्धिर्भवति।

अत्रोपपत्तिः

$$\text{कल्प्यते } \frac{\text{रा. गु}}{\text{छे}} + \text{भा} - \text{भा}' = \text{द}$$

$$\text{तदा रा} = \frac{(\text{द} + \text{भा}' - \text{भा})\ \text{छे}}{\text{गु}} \quad \text{इत्युपपन्नम्}$$

भा०

विपरीत अर्थात् विलोमगणित में उदाहरण के गुणक भागहार और भाग्रहार गुणक हो जाता है तथा धन ऋण हो जाता है ऋण धन होता है।

उदाहरण :—ऐसी कौन-सी संख्या है जिसको तीन से गुण कर पाँच से भाग देते हैं, छः जोड़ देते हैं, उसका मूल लेते हैं तथा उस मूल में एक घटाकर वर्ग करते हैं तो चार हो जाता है?

यहाँ उलटी क्रिया है। इसलिये जहाँ अंत में वर्ग करना है वहाँ दृश्य चार का मूल लिया तो दो हुआ। जहाँ एक घटाना है वहाँ एक जोड़ दिया तो तीन हुआ। जहाँ मूल लेना है वहाँ वर्ग किया तो नौ हुआ। जहाँ छः जोड़ना है वहाँ छः घटा दिया तो तीन बचा। जहाँ पाँच से भाग देना है वहाँ पाँच से गुण दिया तो पन्द्रह हुआ। जहाँ तीन से गुणन है वहाँ तीन से भाग दिया तो पाँच आया। यही अभीष्ट राशि है।

राश्यूनं राश्यूनं गच्छाधनं पिण्डितं पृथक्त्वेन।
व्येकेन पदेन हृतं सर्वधनं तद्भवत्येव ॥२६॥

गच्छधनं राश्यूनं राश्यूनं पृथक्त्वेन पिण्डितं एकत्रीकृतं व्येकेन पदेन एकोनपदेन हृतं विभक्तं तदा सर्वधनं गच्छधनं भवत्येव।

अत्रोपपत्तिः।

अत्र कल्प्यते त्रयोराशयः प्र, द्वि, तृ।

कल्प्यते गच्छधनं = या = प्र + द्वि + तृ

$$\text{तदा या} - \text{प्र} = \text{द्वि} + \text{तृ} = \text{व्य}$$

$$\text{या} - \text{द्वि} = \text{प्र} + \text{तृ} = \text{व्य}'$$

$$\text{या} - \text{तृ} = \text{प्र} + \text{द्वि} = \text{व्य}''$$

$$\text{पक्षयोर्योगे कृते पया} - (\text{प्र} + \text{द्वि} + \text{तृ}) = \text{व्य} + \overset{|}{\text{व्य}} + \overset{||}{\text{व्य}}$$

$$\text{वा, प'या} - \text{या} = \text{या}(\text{प} - १) = \overset{|}{\text{व्य}} + \overset{||}{\text{व्य}} + \text{व्य}$$

$$\therefore \ \text{या} = \frac{\text{व्य} + \overset{|}{\text{व्य}} + \overset{||}{\text{व्य}}}{\text{प} - १} \quad \text{इत्युपपन्नम्}$$

भा०

गच्छधन में अलग अलग राशि घटा दें। पुनः सभी का योग करें तथा व्येक पद से भाग दें तो सर्वधन गच्छधन हो जाता है।

उदाहरण :—एक वन में वाज, कङ्क और हंसों का समूह है। समूह में हर दो को घटा देने से १२, १४ और १६ संख्या होती हैं तो समूह की संख्या वतलाओ।

राश्यून संख्यायें हुई १२, १४ तथा १६। इन सवका योग ४२ हुआ। पद तीनपक्षी है। व्येक किया तो दो बचा। इससे भाग दिया। $\frac{४२}{२} = २१$ हुआ। यही समूह है। अतः २१ − १२ = ६, २१ − १४ = ७, २१ − १६ = ५ यही पक्षी संख्या है।

एकवर्णसमीकरणम्

गुलिकान्तरेण विभजेद् द्वयोः पुरुषयोस्तु रूपकविशेषम्।
लब्धं गुलिकामूल्यं यद्यर्थकृतं भवति तुल्यम् ॥३०॥

गवादिद्रव्यं गुलिका शब्देनोच्यते रूपकं स्वर्णादिधनम्। यदि द्वयोः पुरुषयोः अर्थकृतं सर्वांशेन धनं तुल्यं समं तदा तयोः पुरुषयो रूपविशेषं अर्थात् स्वर्णादिधनयोरन्तरं गुलिकान्तरेण गवादिद्रव्ययोरन्तरेण विभजेत् लब्धं गुलिका मूल्यं भवतिः।

अत्रोपपत्तिः।

कल्प्यते गवादिमूल्यं वा एकस्याः गुलिकायाः मूल्यं = या

$$\text{तदा या}\cdot\text{गु} + \text{रू} = \text{या}\cdot\overset{|}{\text{गु}} + \overset{|}{\text{रू}}$$

पक्षान्तरे कृते $\text{या}\cdot\text{गु} - \text{या}\overset{|}{\text{गु}} = \overset{|}{\text{रू}} - \text{रू}$

वा, $\text{या}\,(\text{गु} - \overset{|}{\text{गु}}) = \overset{|}{\text{रू}} - \text{रू}$

$$\therefore \text{या} = \frac{\overset{|}{\text{रू}} - \text{रू}}{\text{गु} - \overset{|}{\text{गु}}}$$ इत्युपपन्नम् ।

भा०

यह एक-वर्ण समीकरण की विधि है। दोनों रूपयों के अन्तर को द्रव्यान्तर से भाग दें तो द्रव्य का मूल्य आ जाता है। यदि दोनों आदमियों का धन समान हो।

उदाहरण :—दो वणिक् बराबर धन के हैं। एक के पास छः गायें और एक सौ रूपये हैं तथा दूसरे के पास आठ गायें और साठ रूपये हैं तो गाय का मूल्य बताओ। यहाँ दोनों के रूपयों का अन्तर १०० − ६० = ४० है। इसमें द्रव्यान्तर ८ − ६ = २ से भाग दिया तो $\frac{४०}{२}$ = २० यही गाय का मूल्य हुआ।

भक्ते विलोमविवरे गतियोगेनानुलोमविवरौ द्वौ ।
गत्यन्तरेण लब्धौ द्वियोगकालावतीतैष्यौ ॥३१॥

द्वयोर्ग्रहयोर्मध्ये यद्येकः क्रमगतिरन्यश्च वक्रः तदा तयोः विलोमविवरे विरुद्धान्तरे गतियोगेन भक्ते। अनुलोमयोर्द्वयोः वक्रिणोरवक्रिणोर्वा द्वे विवरे अन्तरे गत्यन्तरेण लब्धौ भक्ते अतीतैष्यौ द्वियोगकालौ द्वयोर्ग्रहयो र्योगकालौ भवतः। यदि शीघ्रगतिग्रहोऽग्रे तदा योगो गतः यदि मन्दगतिर्ग्रहोऽग्रे तदा योग एष्य इति।

अत्रोपपत्तिः ।

गतियोगेन वा गत्यन्तरेणैकं दिनं तदा ग्रहयोरन्तरेण किं लब्धं दिनाद्यं गतं एष्यं वा भवति।

भा०

यदि एक ग्रहमार्गी और एक वक्री है तो दोनों के अन्तर को गतियोग से भाग दें और यदि दोनों ग्रहमार्गी वा वक्री हो तो दोनों के अन्तर को गत्यन्तर से भाग देने पर दोनों का गत और एष्य योगकाल आता है। अर्थात् शीघ्र गति-ग्रह आगे हों तो योग

काल गत हो चुका है, और यदि मन्दगतिग्रह आगे हो तो योगकाल एष्य होने वाला है, ऐसा समझना चाहिये।

कुट्टकः।

अधिकाग्रभागहरारं छिन्द्यादूनाग्रभागहारेण।
शेषपरस्परभक्तं मतिगुणमग्रान्तरे क्षिप्तम् ॥३२॥
अध उपरि गुणितमन्त्ययुगनाग्रच्छेदभाजिते शेषम्।
अधिकाग्रच्छेदगुणं द्विच्छेदाग्रमधिकाग्रयुतम् ॥३३॥

यत्र कश्चिद्राशिः एकेन हरेण छिन्नः एकं शेषं तथा द्वितीयेन हरेण भक्तः सन् अपरं शेषमुत्पादयति तथाविधराशेरानयनाय एषः प्रयत्नः कृतोऽस्ति। यत्र एकेन हरेण छिन्नः शेषं महदवशिष्यते अपरेण हरेण छिन्नः सन्नल्पं शेषमुत्पद्यते तत्र प्रथम अधिकाग्रहारः द्वितीयश्च ऊनाग्रभागहारः कथ्यते। अतोऽवश्यं अधिकाग्रभागहारः ऊनाग्रभागहारापेक्षया महान् तेन अधिकाग्रभागहारं ऊनाग्र भागहारेण छिन्द्यात् भजेत्। शेषपरस्परभक्तं अर्थात् शेषेण ऊनाग्रभागहारं विभजेत् सदा यदवशिष्यते तेन प्रथमशेषं विभजेदेवं कर्म कर्त्तव्यं अन्त्ये यच्छेषं तन्मतिगुणं अर्थात् स्वबुद्ध्या केनचिदिष्टेन गुणितं अग्रान्तरे अधिकाग्र न्यूनाग्रयोरन्तरे योज्यं येन सचाङ्कः पूर्वहरेणापवर्त्तनीयो भवेत्। अतएव मतिगुणं प्रयुक्तम्। तत्पूर्वहरं लब्धिं च वल्ल्यधः संस्थाप्य ततः पुनः क्रिया कार्या। अर्थात् उपान्तिमेन उपरि-गुणितं अन्त्ययुग् एवं तावत् क्रिया कार्या यावद्राशिद्वयमवशिष्यते तत्रोर्ध्वस्थं-ऊनाग्रच्छेदेन भाजिते शेषं अधिकाग्रच्छेदगुणं तत्र अधिकाग्रयुतं तदा द्विच्छेदाग्रं राशिर्भवति। अर्थाद्येकराशौ छेदशद्वयं शेषद्वयं च भवति। तादृशो राशिः सिद्धः स्यात्।

अत्रोदाहरणम्

चतुस्त्रिंशद्धतो द्व्यग्रः पंक्त्यग्रो विश्वभाजितः।
तं राशि शीघ्रमाचक्ष्व यदि जानासि कुट्टकम् ॥

अत्र ३४ हरस्य शेषम् २, १३ हरस्य शेषम् १०। अतोऽधिकाग्रभागहारः =१३, ऊनाग्रभागहारः=३४। अनेनाधिकाग्रभागहारे शेगम्=१३ परस्परहृते न्यासः।

१३) ३४ (२
    २६
    ८) १३ (१
        ८
        ५) ८ (१
            ५
            ३) ५ (१
                ३
                २

फलवल्ली	
२	३६
१	१४
१	८
१	६
२	
४	

अत्र प्राप्तं शेषं २ अत्राभीष्टं मानं २ अनेन गुण्यते तदा गुणनफलं=४ इदं क्षेपान्तरेणानेन ८ युक्तं=१२ इदं तद्धरेणा उनेन भक्तं लब्धं निरग्रं=४ अतः फलानामधो गुणकस्तदधो लब्धं च स्थापयित्वा उपान्तिमेन स्वोर्ध्वे हतेऽन्त्येन युते तदन्त्यं त्यजेदित्यादिना जातं ३६। अयं ऊनाग्रच्छेदेना ३४ नेन हृतं शेषम्=२ इदमधिकाग्रभागहारहतं जातं २×१३=२६ अधिकाग्र १० युतं जातो राशिः ३६।

अत्रोपपत्तिः

कल्प्यतेऽधिकाग्रम्$=\text{शे}_1$ तद्धरश्च$=\text{ह}_1$ ऊनाग्रम्$=\text{शे}_2$ तद्धरश्च ह_2 तदाऽऽलापानुसारेण राशिः$=\text{ह}_1\,\text{का}+\text{शे}_1$ यदि लब्धिः$=$ का, पुना राशिः$=\text{ह}_2\,\text{नी}+\text{शे}_2$ यदि लब्धिः नी तदा $\text{ह}_1\,\text{का}+\text{शे}_1=\text{ह}_2\,\text{नी}+\text{शे}_2$ अतः समशोधनादिना

$$\text{नील कमानम्}=\frac{\text{ह}_1.\text{का}+(\text{शे}_1-\text{शे}_2)}{\text{ह}_2}$$

अत्र ह_1, ह_2 भाज्यहारौ शे_1, शे_2 क्षेपकं प्रकल्प्य कुट्टकविधिना गुणः कालकमानं भवति।

कल्प्यते अ· या+क्षे=व, का अत्र या गुणः, का लब्धिः तथा अ, व दृढ़ाङ्कौ तदा

$$\frac{\text{अ}}{\text{व}}=\text{ल तथा शे}=\text{शे तदा}$$

व) अ (ल
वल

।

शे) व (ल

।

शे ल ।।

शे$_1$) शे$_1$ (ल

।।

शे$_1$ ल

।।।

शे$_2$) शे$_1$ (ल

।।।

शे$_2$ ल

अतः अ = वल + शे

व = शे ल + शे$_1$

।।

शे = शे$_1$ ल + शे$_2$

।।।

शे$_1$ = शे$_2$ ल = शे$_3$

अतोऽत्र स्पष्टं दृश्यते उपान्तिमेन स्वोर्ध्वे हतेऽन्त्येन युते इति ।

गणितपादः समाप्तः ।

भा०

यह एक प्रकार शंश्लिष्ट कुट्टक के लिये विधि है जिसमें एक ही राशि को भिन्न दो हरों से भाग देने पर दो शेष बनते हैं। जहाँ हर बड़ा है वहाँ शेष छोटा है, जहाँ हर आपेक्षिक छोटा है वहाँ शेष बड़ा है। ऐसी राशि को जानना है। यहाँ बड़े शेष वाले भाजक को अधिकाग्र भागहार तथा अल्प शेष वाले भाजक को ऊनाग्रभागहर कहते है। अधिकाग्र भागहार को ऊनाग्रभागहार से भाग दें। शेष को परस्पर भाग दें। अन्त्यशेष को किसी इष्ट से गुणकर अग्रान्तर में जोड़ दें। वल्ली में उपान्तिम से उसके ऊपर के अङ्क को गुण दें। उसमेंअन त्य अङ्क को जोड़ दें। इस प्रकार क्रिया करने पर ऊनाग्रच्छेद से भाग दें। शेप को अधिकाग्रच्छेद से गुण दें तथा उसमें अधिक शेष जोड़ दें तो दो छेद वाली राशि सिद्ध हो जाती है।

उदाहरण गणित के साथ उपर में दिया हुआ है। मणितपाद पूर्ण हो गया।

वर्षं द्वादशमासास्त्रिंशद्दिवसो भवेत्स मासस्तु ।
षष्टिर्नाड्यो दिवसः षष्टिस्तु विनाडिका नाड़ी ॥१॥

द्वादशमासाः वर्षं भवति अर्थादेकस्मिन् वर्षे द्वादश मासाः भवन्ति । स मासस्तु त्रिंशत् दिवसो भवेत् । षष्टिः नाड्यः दिवसो भवति तथा षष्टिः विनाडिका एका नाड़ी भवति अर्थात् षष्टिभिर्विनाड़िकाभिरेकानाड़ी भवती त्यर्थः । सौरगणनानुसारेणैषा परिभाषा । भास्कराचार्येणाप्युक्तं "क्षेत्रे समाद्येन समा विभागाः स्युश्चक्रराश्यंशकलाविलिप्ताः" अर्थात् समाद्येन समाः विभागाः तुल्याः विभागाः क्षेत्रे क्रान्तिवृत्ते चक्रराश्यंशकलाविलिप्ताः स्युः । वस्तुतश्चक्रराश्यंशकलाविलिप्तानां समाः वर्षमासदिननाड़ीविनाड़िकाः विभागाः स्युः ।

भा०

बारह महीने का एक वर्ष, तीस दिन का एक महीना, साठ घरी का एक दिन और साठ पल की एक घटी होती है । सूर्य का बारहो राशियों में एक बार भ्रमण ही एक वर्ष है, बारहो राशि बारह महीने हैं एक राशि का तीस अंश एक महीने में तीस दिन है एक अंश की साठ कला एक दिन की साठ घटी है और एक कला की साठ विकला एक घटी का साठ पल है ।

भास्कराचार्य ने गणिताध्याय में लिखा है कि वर्ष मास दिनादि के तुल्य ही विभाग क्रांतिवृत में चक्र, राशि, अंश, कला विकला है । यथार्थ में चक्र, राशि, अंश कला, विकला के ही आधार पर उसी के तुल्य वर्ष, मास दिन आदि की गणना मानी गई ।

गुर्वक्षराणि षष्टिर्विनाडिकार्क्षी षडेव वा प्राणाः ।
एवं कालविभागः क्षेत्रविभागस्तथा भगणात् ॥ २ ॥

गुर्वक्षराणि षष्टिः विनाडिका भवति अर्थाद्यावता कालेन षष्टिः गुर्वक्षराण्युच्चारितानि भवन्ति तावान् कालः आर्क्षी नक्षत्रसंबन्धिनी विनाडिका । वा षडेव प्राणा आर्क्षी विनाडिका । अर्थात् प्रशस्तेन्द्रियपुरुषस्य षट् श्वासोच्छ्वासान्तर्वर्ती कालः एका विनाडिका भवति । यथा काल विभागः कृतः तथैव भगणात् क्षेत्रविभागो ज्ञेयः अर्थादेकस्य वर्षस्य यथा द्वादश मासाः एकस्य मासस्य त्रिंशद्दिनानि इत्यादि एवं भगणस्य द्वादश राशयो भवन्ति तथैकस्मिन् राशौ त्रिंशदंशा भवन्ति तथा एकस्मिन्नंशे षष्टिः कलाः भवन्ति तथा एकस्यां कलायां षष्टिः विकलाः भवन्ति ।

भा०

साठ गुरू अक्षरों की एक विनाडिका होती है अर्थात् साठ गुरू अक्षरों के उच्चारण करने में जितना समय लगता है वह एक विनाड़िका है अथवा छः प्राणों के तुल्य एक विनाडिका होती है अर्थात् स्वस्थ पुरूष को छः बार श्वास लेने में जितना समय लगाता है वह एक विनाडिका है। यह विनाडी आर्क्षी अर्थात् नक्षत्र सम्बन्ध की है।

जिस प्रकार काल विभाग कहा गया है अर्थात् बारह मास का एक वर्ष एक महीने में तीस दिन एक दिन में साठ घटिका इत्यादि इसी प्रकार भगण से क्षेत्र अर्थात् क्रान्तिवृत्त में विभाग है। अर्थात् एक वर्ष के तुल्य सूर्य का एक भगण, पुनः एक भगण का बारह राशि तथा एक राशि के तीस अंश इत्यादि।

भगणा द्वयोर्द्वयोर्ये विशेषशेषा युगे द्वियोगास्ते।
रविशशिनक्षत्रगणास्संमिश्राश्च व्यतीपाता:॥ ३॥

द्वयोः द्वयोः ग्रहयोर्ये विशेषशेषाः भगणाः अर्थात् द्वयोः भगणयोरन्तरे कृते शिष्टा : भगणसंख्यका ये ते युगे महायुगे (चतुर्युगे) द्वियोगाः द्वयोः ग्रहयोः परस्परयोगसंख्यकाः। अधिकभुक्तिग्रहः अल्पेन कालेनैकं पर्ययं कुरुते अल्पगति ग्रहश्च अधिककालेन भगणं पूरयति। अनयोर्भगणयोरन्तरमेव तयोर्योगाः। रविशशनक्षत्रगणाः रविशशिनोर्भगणाः संमिश्राश्च व्यतीपातयोगाः भवन्ति। रविशशिनोर्योगो यदा चक्रं भवति तदा व्यतीपातयोगो भवति। तेनानयो र्भगणयोगतुल्या व्यतीपाताः युगे भवन्ति। एवं रविशशिनोर्योगो यदा भार्ध षड्राशितुल्यं भवति तदा वैधृतयोगो भवति।

अर्थात् विभिन्नायनस्थितयोः रविचन्द्रयोः क्रान्तिर्यदा तुल्या तदा व्यतीपाताख्यो योगः एवमेकायने क्रान्त्योः समत्वे वैधृताभिधो योगो भवति। एवं यदा भवति तदा तयोर्योगश्चक्रार्धप्रमाणं भवति। व्यतीपाते तु रविचन्द्र-योर्योगः भगणसमो द्वादशराशितुल्यो भवति।

भा०

दो ग्रहों के भगणों के अन्तर जितने होते हैं उतने ही बार उन दोनों ग्रहो के योग अर्थात् मिलन होते हैं। रवि चन्द्रमा के भगण के योग तुल्य व्यतीपात योग होता है। रवि चन्द्र का योग एक भगण होने पर अर्थात् दोनों की क्रांति की तुल्यता होने पर व्यतीपात योग होता है। एवं एक अयन में रवि चन्द्र का योग छः राशि के तुल्य होने पर क्रान्ति की तुल्यता होने पर वैधृत योग होता है।

स्वोच्चभगणाः स्वभगणैर्विशेषिताः स्वोच्चनीचपरिवर्त्ताः ।
गुरूभगणा राशिगुणास्त्वाश्वयुजाद्या गुरोरब्दाः ॥४॥

ग्रहस्योच्चभगणा स्वभगणैर्विशेषिताः ऊनीकृताः स्वोच्चनीचपरिवर्त्ताः स्वोच्चनीचपरिभ्रमणानि भवन्ति।

गुरूभगणा राशिगुणा द्वादशगुणाः तदा अश्वयुजाद्याः गुरोः अब्दा षष्टिवर्षात्मकाः भवन्ति।

भा०

ग्रह भगण को उनके उच्च भगण में घटा देने से उच्चनीच परिवर्त्तन हो जाता है। अर्थात् उतनी वार उच्चनीचवृत्त का परिभ्रमण होता है।

गुरूभगण को राशि अर्थात् वारह से गुणा करें तो अश्वयुक् आदि गुरू के वर्ष हो जाते हैं। गुरू वारह वर्ष में एक भगण की पूर्ति करते हैं एक वर्ष में एक राशि का भोग करते हैं अतः भगण को वारह से गुणा करने पर गुरू वर्ष होते हैं। गुरू का षष्टिवर्षात्मक एक चक्र है। उन साठ वर्षों का नाम अश्वयुक् आदि है।

रविभगणा रव्यब्दा रविशशियोगा भवन्ति शशिमासाः ।
रविभूयोगादिवसा आवर्ताश्चापि नाक्षत्राः ॥५॥

रविभगणा एव रव्यब्दाः सूर्यस्य एक भगणपूर्तिरेव सूर्यवर्षम्। रविशशियोगा एव शशिमासा चान्द्रामासा भवन्ति। रविशशियोगास्तयोर्भगणान्तर तुल्याः भवन्ति।

रविभूयोगा रवेः भूयोगदिवसाः अर्थात् भूदिवसाः कुदिवसा सावन दिवसा वा तैः सावनदिवसैर्युताः रविभगणाः भानां नक्षत्राणां आवर्त्ताः भ्रमणं तदेव नाक्षत्राः नक्षत्रदिवसाः भभ्रमा इति।

अत्रोपपत्तिः।

चन्द्ररव्योरेकस्मिन्नेव विन्दौ योगो दर्शान्तः ततः परं स्वगत्या द्वावपि भ्रमतः यदा पुनर्द्वयोरन्तरं एकभगणतुल्यं भवति तदैव पुनस्तयोर्योगः अर्थात् अमान्तादमान्तं यावत् विधुमासश्चान्द्रमासो वा। यदा द्वयोरेकभगणतुल्ये गत्यन्तरे एकश्चान्द्रमासस्तदा तयोः युगभगणान्तरे किमिति जाताः युगे चान्द्र-

मासाः अथवा $\frac{\text{ए दि} \times \text{चक्रकला}}{\text{चंग} - \text{रग}}$ = एकचान्द्रमासान्तःपातीयदिनानि ।

पुनरन्योऽनुपातः यद्येभिः कुदिनैरेकश्चान्द्रमासस्तदा युगकुदिनैः किं जाताः

$$\text{युगे} \quad \text{चान्द्रमासाः} = \frac{\text{१ मा} \times \text{युग कु}}{\frac{\text{चक्रकला}}{\text{चग} - \text{रग}}} = \frac{\text{युकु (चं ग} - \text{र ग)}}{\text{चक्रकला}}$$

$$= \frac{\text{यु कुः चंग}}{\text{चक्रकला}} - \frac{\text{यु कु. रग}}{\text{चक्रकला}}$$ = युग चंभ − युरभ इत्युपपन्नं ते योगा भगणान्तर तुल्याः शशिमासाः ।

रविः केनचिन्नक्षत्रेण सह प्रागुदितः द्वितीयदिने गतिरहितं नक्षत्रं पुनरूदितं ततः पश्चात् यावता कालेन रविरूदितस्तेन कालेन युक्तो भाहः सावनाहो भवति । एवं प्रतिदिने रविगतिसम्बन्धिकालेन युक्तो भभ्रमः सावनाहो भवति । एवं वर्षान्ते सर्वकलानांयोगतुल्य एको रविभगणः तेन रविभगणयुक्ता भभ्रमाः एकस्मिन् वर्षे सावानाहाः । तेन सावनसंख्यात एकभगणाधिका भभ्रम संख्या भवति ।

अतः युगे रविभगणानां कल्पसावनदिवसानां च योगाः भभ्रमाः भवन्ति इत्युपपन्नम् ।

भा०

सूर्य का एक भगण ही एक सूर्यवर्ष है इसलिये युग में सूर्य भगण सूर्यवर्ष होगा ।

सूर्य चन्द्र जितने वार योग करते हैं युग में उतने ही चान्द्रमास होते हैं । यह योग सूर्य चन्द्र के भगणों के अन्तर तुल्य होते हैं ।

सूर्य के भगण में युग सावन दिन को जोड़ दें तो युग में भभ्रमसंख्या होती है ।

अधिमासका युगे ते रविमासेभ्योऽधिकास्तु ये चान्द्राः ।
शशिदिवसा विज्ञेया भूदिवसोनास्तिथिप्रलयाः ॥ ६ ॥

रविमासेभ्यो अधिका ये चान्द्राः चान्द्रमासाः ते युगे अधिमासका भवन्ति । तथा भूदिवसोनाः सावनदिवसोनाः शशिदिवसाः चान्द्रदिवसाः तिथिप्रलयाः तिथिक्षयाः विज्ञेयाः ।

युग में जितने चान्द्रमास हैं उनमें रविमास को घटा दें तो अधिमास हो जाते हैं क्योंकि युगादि से दोनो सौर और चान्द्र मास की प्रवृत्ति है। अमान्त से अमान्त तक चान्द्रमास होता है और सौरमास राशि के अन्त तक। इस सौर मास का अन्त अमान्त के बाद होता है। अमान्त तथा संक्रान्ति के बीच में जो शेष है उसे अधिशेष कहते हैं। यही अधिशेष बढ़ते बढ़ते प्रत्येक तैंतीसवें महीने पर एक चान्द्रमास के तुल्य हो जाता है। उस महीने में कोई संक्रान्ति नहीं पड़ती। एक संक्रान्ति एक अमान्त से पहले और उसके आगे की संक्रान्ति अग्रिम अमान्त के आगे पड़ती है। इसी चान्द्रमास को अधिमास कहते हैं। अधिमास याने अधिक मास अर्थात् सौर मास संख्या से ज्यादे मास। अतएव सौरमास संख्या से चान्द्रमास संख्या अधिकमास तुल्य विशेष होती है। इसलिये युगचान्द्रमास संख्या में युगसौरमास की संख्या घटा दें तो युग में अधिकमास संख्या हो जायगी। इसी प्रकार तिथ्यन्त सूर्योदय के मध्य में अवम शेष है। यह अवमशेष बढ़कर जब एक तिथि के तुल्य हो जाता है तो वह दो सूर्योदय के मध्य में पड़कर तिथिक्षय कहलाता है इसी को अवम कहते हैं। इसीलिए अवम तुल्य संख्या युग में सावन संख्या से अधिक चान्द्र संख्या होती है। अतएव युगचान्द्रदिन में युगसावनदिनसंख्या घटा देने से युग में तिथिप्रलय अर्थात् तिथि-क्षय होते हैं।

रविवर्षं मानुष्यं तदपि त्रिंशद्गुणं भवति पित्र्यम्।
पित्र्यं द्वादशगुणितं दिव्यं वर्षं समुद्दिष्टम् ॥ ७ ॥

रविवर्षं मानुष्यं मनुष्याणां वर्षम्। रविवर्षं त्रिंशद्गुणितं तदा पित्र्यं पितृसम्बन्धि वर्षं भवति। अर्थात् त्रिंशद्भिर्मनुष्यवर्षैः पितृणांवर्षं भवति। पित्र्यं द्वादशगुणितं तत् दिव्यं देवतासम्बन्धिनं वर्षं समुद्दिष्टम्। अर्थात् षष्ट्यधिकत्रिशतवर्षैर्मानुष्यैः देवानां वर्षं भवति।

विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति। ते चन्द्रमधः आमनन्ति। अमावास्यायां यदा चन्द्रार्कौ एकस्मिन् सूत्रे भवतः तदा ते सूर्यं निजमस्तकोर्ध्वे पश्यन्ति तदेषां दिनार्धं। पौर्णमास्यां चन्द्रस्य भार्धान्तरत्वात् अधः स्वभागं पितरो न पश्यन्ति अतस्तदा तेषां निशीथः। अतोऽस्माकं चान्द्रमासः पितृणां दिनरात्रिप्रमाणं पूर्णदिनम्। कृष्णपक्षार्धे सार्द्धसप्तम्यां रविरूदेति शुक्लपक्षदले सार्धसप्तम्या-मस्तं याति। अतोऽस्माकमेकचान्द्रमासः पितृणामहोरात्रम्। त्रिंशद्भिर्दिनैर्मासो भवति द्वादशभिर्मासैर्वर्षमतोऽस्माकं त्रिंशद्भिर्वर्षैः पितृणांवर्षं भवति।

यदा सूर्यः उत्तरगोले तदा देवाः सूर्यं पश्यन्ति अतोऽस्माकं षण्मासः देवानां दिनं यदा सूर्यो दक्षिणगोले तदा तेषां रात्रिः अतोऽस्माकंषष्ट्यधिकत्रिशत् सौर वर्षैः देवानामहोरात्रं भवति।

देवाः मेरौ निवसन्ति येषां खस्वस्तिके उत्तरध्रुवः। ध्रुवान्नवत्यंश-व्यासार्धवृत्तमेव नाडीवृत्तं विषुवद्वृत्तं वा। यदा सूर्यः नाडीवृत्तादुत्तरे तदा देवानां क्षितिजोर्ध्वे सूर्यः अतएव ते देवाः षण्मासपर्यन्तं सूर्यं पश्यन्ति यावत्कालं सूर्यस्य स्थितिः नाडीवृत्तादुत्तरे भवति। यदा पुनः सूर्यो नाडीवृत्ताद्दक्षिणतो याति तदा बड़वानलस्थानां दैत्यानां षण्मासपर्यन्तं दिनं तदा देवानां रजनी अतो मानुष्यवर्षेणैकेन देवानां दैत्यानां चाहोरात्रम्। अतः षष्ट्यधिकशतत्रय मनुष्यवर्षैः देवानां वर्षमित्युपपन्नम्।

दिव्यं वर्षसहस्रं ग्रहसामान्यं युगं द्विषट्कगुणम्।
अष्टोत्तरं सहस्रं ब्राह्मो दिवसो ग्रहयुगानाम् ॥८॥

द्विव्यं वर्षसहस्रं द्विषट्कगुणं द्वादशगुणं तत् ग्रहसामान्यं युगं यत्र सामान्यरूपेण ग्रहाः एकस्था भवन्ति न पूर्णरूपेण। किन्तु अष्टोत्तरं सहस्रं अष्टाधिक सहस्रवर्षं ग्रहयुगानां ब्राह्मो दिवसो भवति अर्थात् तस्मिन् समये ग्रहा एकस्था भवन्ति। स एव समयः ब्राह्मः दिवसः ब्रह्मणो दिनं कल्प इति।

भा०

देवता के हजारवर्ष को बारह से गुणा दें तो ग्रहसामान्य महायुग होता है। अर्थात् सामान्य रूप से ग्रह एकत्र होते हैं, पूर्णरूप से नहीं। देवता का एक वर्ष मनुष्य के ३६० वर्ष के तुल्य होता है इसलिये १२००० × ३६० = ४३२०००० वर्ष के महायुग होते हैं। तथा देवता का १००८ वर्ष ग्रहयुग का ब्रह्मा का एक दिन होता है। इतने दिन में सभी ग्रह एकत्र हो जाते हैं। अन्य सिद्धान्तों में एक हजार महायुग का ब्रह्मा का दिन कहा है। किन्तु आचार्य एक हजार आठ मयायुग का ब्रह्मा का दिन इसलिये कहते हैं कि इनके मत से ७२ महायुगों का मनु और १४ मनु का ब्रह्मा का एक दिन होता है। इसलिये ७२ × १४ = १००८ महायुग का ब्रह्मा का एक दिन होता है।

भुवोऽतिदूरस्थः ब्रह्मा सर्वदा सूर्यं समुदितं पश्यति। कियन्मितैर्योजनैरूपरिस्थो द्रष्टा सर्वदार्कं पश्यतीति ज्ञानार्थं क्षेत्रम्।

धन्वन्ताहोरात्रवृत्तं यावत् दृश्यांशं प्रकल्प्य रवेः सकाशाद्भुवः स्पर्शरेखा कृता सा यत्रोर्ध्वाधरसूत्रे लग्ना तत्र द्रष्टा कल्पितः।

भूस्पय पदृ त्रिभुजे ∠ भूदृस्य = कोटि (दृश्यांश + कुछन्नक)

भूस्पया = भूव्यासार्द्धम्

भू दृ = दृष्टयुछ्रितिः

$$\text{तेन}\ \frac{\text{भूव्या}\,?\,\times\,\text{त्रि}}{\text{कोज्या (दृश्या + कुछ)}} = \text{भू दृ अत्र भूव्यासार्धं}$$

विशोध्यावशिष्टमुछ्रितिः।

अस्मादूर्ध्वं यस्य स्थितिः आकाशे स सर्वदा रविमुदितं पश्यति। ब्रह्मा तु अस्माद्बिन्दोर्महति दूरे स्थितस्तेन स सर्वदा स्वदिने रविं पश्यति।

भा०
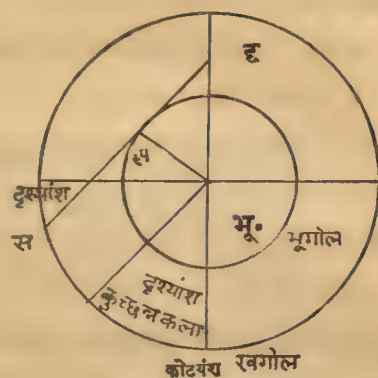
ब्रह्मा का दिन बहुत बड़ा होता है इसका कारण यह है कि वे इतनी दूर में हैं कि वे सूर्य को सर्वदा देखतें ही रहते हैं। इसलिये उनका दिन ही बना रहता है क्योंकि जब तक सूर्यदर्शन हो वह दिन है। सूर्य का अदर्शन ही रात है।

जबतक विषुवद्वृत्त से उत्तर सूर्य रहते हैं देवताओं का दिन है। दक्षिण गोल में भी धनु के अन्त तक अगर कोई सूर्य कों देखता रहे तो वह सर्वदा सूर्य को उदित देखेगा। दिखाई हुई उपपत्ति से गणित करने से मालूम होता है कि ७६ योजन पृथिवी के उपर में जिसकी स्थिति है वह सर्वदा सूर्य को देखता रहेगा। चूंकि ब्रह्मा इससे भी अधिक योजन पृथिबी के उपर में हैं इसलिए सर्वदा सूर्य को देखते रहते हैं इसलिए उनका सर्वदा दिन ही रहता है जब सूर्य वगैगह को उपसंहार कर वे सो जाते हैं तब उनकी रात होती है।

उत्सर्पिणी युगार्धं पश्चादवसर्पिणी युगार्धम्वा।
मध्ये युगस्य सुषमादावन्ते दुष्षमेन्दूच्चात् ॥ ६ ॥

पूर्वं युगार्धं उत्सर्पिणी पश्चात् युगार्धं अवसर्पिणी अर्थात् पूर्वार्धे क्रमतोः- वृद्धिः पश्चात् क्षयः। युगस्य भागत्रयं कृत्वा मध्ये सुषमा आदौ अन्ते च

दुष्षमेति इदं इन्दूच्चादपि ज्ञेयं। इन्दूच्चात् सादृश्यं यथार्थतो न घटते तेन गणक-तरङ्गिण्यां पाठशोधनं कृतमस्ति। मध्ये युगस्य सुषमादावन्ते दुष्षमाग्न्यंशात्। एषः पाठः साधुः प्रतिभाति। अग्न्यंशात् तृतीयांशादिति। प्रथमांशे युगादिः द्वितीयांशे युगमध्यं तृतीयांशे युगान्तः।

मन्मते इन्दूच्चं इन्दोः पूर्णताप्राप्तिः पूर्णान्तं। पूर्णान्ते चन्द्रः सुषमः पूर्णो भवति। अस्मात् पूर्वमुत्सर्पति क्रमशो वृद्धिमाप्नोति। पश्चात् पूर्णिमान्तात् परं अवसर्पिणी क्रमशः क्षयत्वमाप्नोति एवं युगमध्ये स्थितिः सुषमा युगादावुत्सर्पिणी क्रमशो वृद्धिं गता पश्चादवसर्पिणी क्षयत्वं गता स्थिति-र्भवतीति। चन्द्रेण सह समवेति।

भा०

युग का तीन भाग करके प्रथमभाग को उत्सर्पिणी, तृतीयभाग को अवसर्पिणी और मध्यभाग को सुसमा कहते हैं। चन्द्रोच्च से भी इसी प्रकार जानना चाहिए। यहाँ चन्द्रोच्च से कोई बात नहीं बैठती इसलिए म. म. द्विवेदी जी ने इन्दूच्चात् के स्थान पर अग्न्यंशात् पाठ किया है जो शुद्ध प्रतीत होता है अर्थात् युग का समान तीन भाग करके तीनों संज्ञा पठित की गई है।

मेरे विचार में ऐसा मालूम पड़ता है कि इन्दूच्चात् का अर्थ चन्द्रमा की उच्चता परिपूर्णता पूर्णिमा से है। अर्थात् चन्द्रमा पूर्णिमा से पहले क्रमशः बढ़कर पूर्णसम होते हैं। एवं पूर्णिमा के अनन्तर क्रमशः घटने लगते हैं इसीलिये पूर्णिमा से पहले उत्सर्पिणी पूर्णिमा के बाद अवसर्पिणी और मध्यमे पूर्णिमा में सुसमा पूर्णगोल रहते हैं। यही स्थिति युगादि में बढ़ने की ओर, युगान्तमे घटने की ओर तथा मध्यमे बराबर स्थिति रहती है।

षष्ट्यब्दानां षष्टिर्यदा व्यतीतास्त्रयश्च युगपादाः।
त्र्यधिका विंशतिरब्दास्तदेह मम जन्मनोऽतीताः ॥१०॥

षष्ट्यब्दानां गुरूवर्षाणां षष्टिः वारं यदा व्यतीताः युगपादाः त्रयः सत्यत्रेताद्वापरयुगपादाः यदा व्यतीताः तदेह मम जन्मनः त्र्यधिका विंशतिः त्रयोविंशतिः २३ अब्दाः वर्षाणि व्यतीताः अर्थात वर्तमानयुगे सत्यत्रेताद्वापर-द्वापरयुगपादे व्यतीते कलिपादस्य ६० × ६० = ३६०० षट्त्रिंशच्छतवर्षे गतेऽस्मिन्वर्तमानकाले मम जन्मनः २३ त्रयोविंशति वर्षाणि गतानि अर्थात् ३६००—२३ = ३५७७ कलेर्गते आचार्यस्य जन्माभूत्। कलेरारंभात् ३१७६

यदैतानि वर्षाणि गतानि तदा शकारम्भो जात : तेन ३५७७—३१७९=३९८ शके आर्यभटस्य जन्म अभूत् तथा ४२१ शके तेनार्यभटीयं पुस्तकं रचितमिति।

कलेरारंभात् स्वसमयख्यापनं सूचयति यत्तदा तत्र शकचर्चा नासीत् अन्यथा शकगणनयैव समयख्यापनमभवत्। तथा ऽऽचार्यस्य जन्म सौर वर्षादावेवाभवत् यतः मासानां तिथेश्त्र चर्चा जन्मसमयसम्बन्धे न कुत्राप्यस्ति अतएव सौरवर्षारम्भदिनएव आचार्यस्य जन्मदिवसकर्तव्यमुचितं प्रतीयते। तेन वर्षारम्भे मेषसंक्रान्तिदिन एव आचार्यस्य जन्मोत्सवः कर्त्तव्यः। एतत् दिनं सर्वदा एप्रिलमासस्य त्रयोदशतारिकायां भवति।

षष्ट्यब्दानां षष्टिरित्यनेन गुरुवर्षकल्पनया गुरुवर्षारम्भे आचार्यस्य जन्म। परन्तु गुरु वर्षान्तं रविवर्षान्तकालस्यासन्नकाल एव भवति तेन रविवर्षादावेवास्य जन्मजयन्त्युत्सवः।

भा०

इस महायुग में सत्य, त्रेता, द्वापर तीन युग के बीत जाने पर कलियुग के आरम्भ से साठ वर्ष वाले गुरू वर्ष का जब साठ बार भ्रमण हो चुका था अर्थात् ६०×६०=३६०० सौरवर्ष बीत चुके थे तब इस ग्रन्थ के लिखने के समय में उनकी आयु के २३ वर्ष बीत चुके थे। अर्थात् ३५७७ वर्ष बीतने पर उनका जन्म हुआ था। ३१७९ वर्ष कलि के बीतने पर शक का आरम्भ हुआ था। इसलिए ३५७७-३१७९=३९८ शक में आचार्य का जन्म हुआ था और ४२१ शकाब्द में उन्होंने आर्यभटीय ग्रन्थ को लिखा था।

कलियुग के प्रारंभ से उन्होंने अपनी गणाना कीहै इससे विदित होता है कि आर्यभट के समय में शक संवत् का प्रचार नहीं हुआ था। उन्हों ने अपनी आयु को पूरी वर्षगणाना में लिखी है इसलिये वर्षान्त या वर्षारंभ में उनका जन्म हुआ था। अत एव हमलोग वर्षारंभ १३ एप्रिल को प्रति वर्ष उनकी जन्मदिवसजयन्ती मनाते हैं।

युगवर्षमासदिवसास्समं प्रवृत्तास्तु चैत्र शुक्लादेः।
कालोऽयमनाद्यन्तो ग्रहभैरनुमीयते क्षेत्रे ॥११॥

चैत्रशुक्लादेः चैत्रशुक्लप्रतिपदादितः सममेककालावच्छेदेन युगवर्षमासदिवसाः प्रवृत्ताः। चैत्रशुक्लप्रतिपदारम्भ एव मेषादौ ग्रहाः स्थिता आसन यतस्तदैव वर्षस्य मासस्य दिवसस्य च प्रवृत्तिः। अयं कालोऽप्यनाद्यन्त इति

क्षेत्रे ग्रहभैरनुमीयते अर्थात् सर्वदा क्षेत्रे स्वमार्गे आकाशे ग्रहाणां नक्षत्राणां च चारः तेनानुमीयते यदयं कालः अनाद्यन्तः नास्य कुत्राप्यादिर्न चान्त इति ।

भा०

चैत्र शुक्ल प्रतिपत् से युग, वर्ष, मास, दिन सब एक ही समय में प्रवृत्त हुए। क्षेत्र में आकाश में ग्रह और नक्षत्र घूमते रहते हैं इससे अनुमान होता है कि काल अनादि और अनन्त है। काल को परिच्छिन्न करने वाले ग्रह नक्षत्र चूँकि सर्वदा चलते ही रहते हैं इसीलिये ऐसा अनुमान होता है।

षष्ट्या सूर्याब्दानां प्रपूरयन्ति ग्रहा भपरिणाहम् ।
दिव्येन नभःपरिधिं समं भ्रमन्तः स्वकक्ष्यासु ॥ ११ ॥

भवांशेऽर्कः एतत्पूर्वकथनस्यायं परिष्कारः। एकस्मिन्नब्दे सूर्यः स्वकक्षा योजनानि भ्रमति।

अतः सूर्याब्दानां षष्ट्या अर्थात् षष्टिसूर्यवर्षप्रचलितसूर्यकक्षयोजनैः ग्रहाः भपरिणाहं नक्षत्रकक्षापरिधिं प्रपूरयन्ति। तथा स्वकक्ष्यासु समं योजनमानेन भ्रमन्तः ग्रहाः दिव्येन चतुर्युगेन यावन्तं योजनात्मकं प्रदेशं गच्छन्ति तत्तुल्यमेव नभः परिधिं आकाशकक्षां प्रपूरयन्ति।

ग्रहभगणैर्विहृता खकक्षा तत्तद्ग्रहस्य स्वकक्षा भवति। यतो निज-कक्षिकायामजस्रं परिवर्त्तमानो ग्रहः स्वकक्षामितयोजनानि परिभ्रमति। परन्तु भकक्षामानं किं तदर्थं कथयति यत् षष्टिवर्षप्रमितकालैः सूर्यः यावन्ति योजनानि स्वकक्षायां भ्रमति तावन्त्येव योजनानि नक्षत्रकक्षेति। एवं दिव्यचतुर्युगेन यावन्तं योजनात्मकं प्रदेशं ग्रहाः गच्छन्ति तावन्त्येवाकाशक। क्षायोजनानि। सममित्यनेन ग्रहाणां योजनात्मिका गतिः समेति प्रतिपादिता।

भा०

साठ सूर्य वर्षों में अर्थात् साठ वर्ष में सूर्य अपनी कक्षा में जितने योजन चलते है उतने ग्रह सब नक्षत्र परिधि को पूरा करते है। दिव्य चतुर्युग में ग्रह जितने योजन

घूमते है वही आकाशकक्षा है और अपनी अपनी कक्षा में समान घूमते हुए ग्रह आकाश कक्षा को पूर्ण करते हैं। सब ग्रहों की दैनन्दिनी योजनात्मिका गति तुल्य है।

मण्डलमल्पमधस्तात् कालेनाल्पेन पूरयति चन्द्रः।
उपरिष्टात् सर्वेषां महच्च महता शनैश्चारी ॥१३॥

अधस्तात् सर्वेषामधः स्थितश्चन्द्रः अल्पं मण्डलं स्वीयं अल्पेन कालेन पूरयति। सर्वेषां उपरिष्टात् सर्वेषामुपरि स्थितः शनैश्चारी शनैश्चरः महत् स्वीयं मण्डलं महता कालेन पूरयति।

सर्वे ग्रहाः कल्पे खकक्षामितयोजनानि परिभ्रमन्ति अत एकस्मिन् दिने सर्वेषां योजनात्मिका गतिस्तुल्यैव ११८५८ ४५ एतानि योजनानि दैनिकगतिः।

सर्वाः कक्षाः चक्रलिप्ताङ्किताः अतोऽत्र कल्प्यते चन्द्रकक्षायां चन्द्रस्य योजनात्मिका गतिः = पर एवं बुध कक्षायां बुधस्य गतिः छव तथा शनैश्चर कक्षायां शनेर्योजनगतिः थस

परन्तु कलात्मिका चन्द्रगतिः ∠ पकेर,

बुधस्य कलात्मिका गतिः ∠ छ के व,

तथा शनेः कलात्मिका गतिः ∠ थ के स

अत इदं स्पष्टं दृश्यते यत् चन्द्रस्य कलात्मिका गतिः सर्वाधिका तथा शनेः कलात्मिका गतिः सर्वाल्पेति उपपन्नम्।
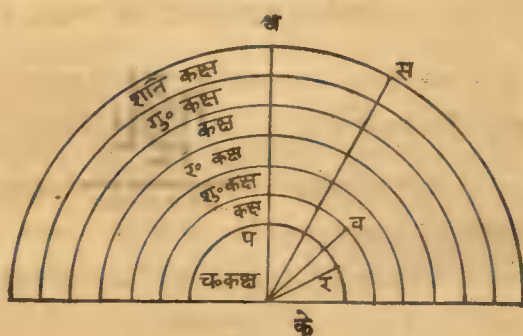
भा०

योजनात्मिका गति बराबर होने के कारण सबसे नीचे अपने छोटे मण्डल को चन्द्रमा बहुत अल्प काल में भोगते हैं और सबसे उपर बडी कक्षा वाला जो शनि है वह बहुत काल में अपने मण्डल का भोग करता है जैसा कि क्षेत्र में स्पष्ट है।

अल्पे हि मण्डलेऽल्पा महति महान्तश्च राशयो ज्ञेयाः ।
अंशाः कलास्तथैवं विभागतुल्या स्वकक्ष्यासु ॥१४॥

अल्पे हि मण्डले अल्पाः राशयः महति मण्डले महान्तश्च राशयः ज्ञेयाः अर्थात् मण्डलस्य अल्पत्वे राशिविभागे कृते एकस्य राशेः विभागः स्वल्पो भवति महति मण्डले महान् विभागो भवति एवमंशाः कला अपि अल्पास्तथा महान्तश्च भवन्ति । किन्तु स्वकक्ष्यासु विभागा तुल्याः भवन्ति । यद्यपि स्वरूपे लघु महद्वा किन्तु तस्य माने नास्ति काचित् क्षतिः मानं यथा लघुमण्डले तथा बृहन्मण्डलेऽपि भवति । अर्थात् स्वकक्षास्वपि द्वादश राशयः ३६०° अंशाः तथा २१६०° कलाः सन्ति ।

भा०

छोटे मण्डल में राशि विभाग छोटा और बड़े मण्डल में बड़ा विभाग होता है इसी प्रकार अंश, कला, विकला का विभाग छोटा बड़ा होता है । अपनी अपनी कक्षा में बारह राशि ३६० अंश तथा २१६०० कला है ।

भानामधश्शनैश्चरसुरगुरूभौमार्कशुक्रबुधचन्द्राः ।
तेषामधश्च भूमिर्मेधीभूता खमध्यस्था ॥१५॥

सर्वेषामुपरि भानां नक्षत्राणां मण्डलं तस्मादधः शनैश्चरस्ततः सुरगुरूः तस्मादधो भौमस्ततोऽधः रविः ततः शुक्रः ततो बुधः सर्वेषामधश्चन्द्रमण्डलमस्ति । सर्वेषां मण्डलानामधः भूमिः पृथिवी इयं स्वशक्त्या खमध्यस्था आकाशमध्ये स्थिता मेधीभूता तिष्ठति । यथा कणमर्दनार्थं स्थिरा मेधिः तस्य परितो वृषभाः भ्रमणं कुर्वन्ति शस्योपरि । एवमाकाशे पृथिवी मेधीभूता यस्याः परितो चन्द्रादारभ्य भानां मण्डलमपि भ्रमन्ति ।

सर्वेषां कर्णज्ञानं वेधरीत्या कृतं तत्र चन्द्रस्य कर्णः सर्वाल्पस्तथा शनेः कर्णः सर्वाधिकः सिद्धः तेन तेषां ग्रहाणां बिम्बानि अध ऊर्ध्वस्थानि यथा क्रमं सन्ति तद्बिम्बीयकर्णज्ञानं यथाः—

कल्प्यते

भू = भूके

वि = बिम्बकेन्द्र

भूवि = ग्रहकर्णो बिम्बीयः

पृर = उच्छ्रयः
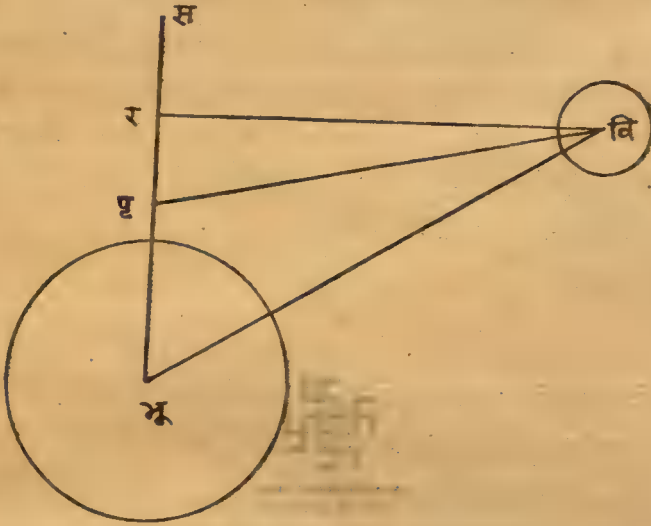
प्रथमं पृस्थाने

रपृवि कोणमापनं कृत्वा

पुनः र बिन्दौ

सरवि कोणं मापयित्वा ततः

१८० – रपृवि = भूपृवि

तथा १८० – सरवि = पृरवि

१८० – (रपृवि + पृरवि) = पृविर

ततः $\frac{\text{पृर} \times \text{ज्या पृरवि}}{\text{ज्या पृविर}}$ = पृवि ततः भूपृवि त्रिभुजे भूपृ ।

पृवि भुजयोस्तदन्तर्गतकोणस्य च ज्ञानात् त्रिकोणमित्या बिम्बीय-कर्णज्ञानं सुगमम् ।

भा०

नक्षत्रों के नीचे शनि का तब गुरू तब मंगल उसके बाद सूर्य तत्पश्चात् शुक्र उसके अनन्तर बुध और तब चन्द्रमा की कक्षा है सब के नीचे आकाश मध्य में मेढ़ की तरह पृथिवी खड़ी है।

ग्रहों के विम्वीयकर्ण जानकर ऐसा मालूम हुआ कि चन्द्रकर्ण सबसे छोटा और शनिकर्ण सबसे बड़ा है इसी प्रकार कर्णज्ञान से यह अवगत हुआ कि किसके ऊपर कौन है। पृथिवी को मेधी कहने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहाँ पृथिवी स्थिर कही गही है। इस प्रकार आचार्य ने दोनों मतों का उल्लेख किया है। प्राचीन मत तथा स्वीय नवीनमत।

सप्तैते होरेशाश्शनैश्चराद्या यथाक्रमं शीघ्राः।
शीघ्रक्रमाच्चतुर्था भवन्ति सूर्योदयाद्दिनपाः ॥१६॥

शनैश्चराद्या एते सप्त ग्रहाः यथाक्रमं शीघ्राः अर्थात् शनैश्चरापेक्षया गुरुः शीघ्रगतिग्रहः तदपेक्षया कुजः तदपेक्षया रविः शीघ्रः एवमेते होरेशाः भवन्ति। शीघ्रक्रमात् चतुर्थः शीघ्रः दिनपतिः अर्थात् शनेश्चतुर्थः शीघ्रो रविः अतः प्रथमं दिनपतिः सूर्यः सूर्याच्चतुर्थः शीघ्रः चन्द्रः अतो द्वितीयो दिनपतिश्चन्द्रः। एवं श० गु० मं० र० शु० बु० च० एषु क्रमतश्चतुर्थो दिनपतिर्भवति। तेन रव्यादयो वाराः क्रमतः प्रचलितास्सन्ति। सूर्योदयात् दिनपाः भवन्ति।

भा०

शनैश्चर, सबसे मन्दगतिग्रह है। उसकी अपेक्षा शीघ्रतर गुरू, फिर मंगल तथा उसके बाद सूर्य है। येही होरा का स्वमी होते है। इन सातो ग्रहों में शनैश्चर से चतुर्थ यथाक्रम शीघ्रग्रह सूर्य प्रथम दिनपति वारेश होते हैं तदनन्तर चतुर्थ चन्द्र तदनन्तर चतुर्थ मंगल फिर बुध तब गुरू तब शुक्र तब शनि चतुर्थ चतुर्थ ग्रह वारेश होते हैं, वारेश के ही अनुसार सूर्यादि वारगणना प्रचलित है। सूर्योदय से दिनपति होते हैं। सूर्योदय से द्वितीय सूर्योदय तक वार है।

कक्ष्या प्रतिमण्डलगा भ्रमन्ति सर्वे ग्रहाः स्वचारेण।
मन्दोच्चादनुलोमं प्रतिलोमश्चैव शीघ्रोच्चात् ॥१७॥

कक्ष्यामण्डलगा तथा प्रतिमण्डलगाः सर्वेग्रहाः स्वचारेण भ्रमन्ति तत्र मन्दोच्चात् अनुलोमं भ्रमन्ति किन्तु शीघ्रोच्चात् प्रतिलोमं भ्रमन्ति।

अत्रोपपत्तिः

समायां भूमौ विन्दुं कृत्वा तां भूमिं प्रकल्प्य ततस्त्रिज्यामितेन कर्कटकेन कक्षामण्डलं लिखेत्। तद्भगणाङ्कितं कृत्वा मेषादेरारभ्य ग्रहमुच्चं च दत्वा तत्र चिह्ने कार्ये। ततो भूविन्दूच्चचिह्नयोरूपरि रेखा दीर्घा कार्या। सोच्चरेखोच्यते। तदुपरि लम्बरूपिणी अन्या रेखा कार्या। भूविन्दोरूपयन्त्यफलज्यामुच्चोन्मुखीं दत्वा तदग्रे त्रिज्यामित कर्कटेन प्रतिमण्डलं च कार्यम्। उच्चरेखया सह यत्र संपातस्तत्र प्रतिमण्डेऽप्युच्चं ज्ञेयम्। तस्मादुच्चभोगं विलोमं दत्वा तत्र प्रतिमण्डले मेषादिर्ज्ञेयः। ततो ग्रहमनुलोमं दत्वा तत्र चिह्नं कार्यम्। अथ प्रतिमण्डलमध्येऽन्या तिर्यग्रेखा कार्या। तिर्यग्रेखयोरन्तरमन्त्यफलज्यातुल्यमेव
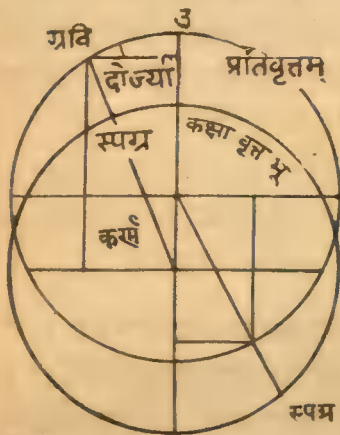
सर्वत्र भवति। ग्रहोच्चरेखयोरन्तरं दोर्ज्या। ग्रहतिर्यग्रेखयोरन्तरं कोटिज्या। प्रतिमण्डलस्थग्रहाद्भूविन्दुगामि सूत्रं कर्णः। कर्णसूत्रस्य कक्षावृत्तस्य यत्र संपातस्तत्र स्फुटो ग्रहः। कक्षामण्डले स्फुटमध्ययोरन्तरं फलम्। तच्च मध्यग्रहात् स्फुटेऽग्रस्थे धनं पृष्ठस्थे ऋणमिति किल ग्रहसंस्थानम्।

कक्ष्यामण्डलतुल्यं स्वं प्रतिमण्डलं भवत्येषाम्।
प्रतिमण्लस्य मध्यं घनभूमध्यादतिक्रान्तम् ॥१८॥

कक्ष्यामण्डलतुल्यमेव एषां ग्रहाणां स्वं स्वं प्रतिमण्डलं भवति। यस्य प्रतिमण्डलस्य मध्यं केन्द्रं घनभूमध्यात् भूकेन्द्रात् अतिक्रान्तं अर्थाद्भू केन्द्रादन्यत्र तस्य प्रतिमण्डलस्य केन्द्रं भवति।

कक्षामण्डलस्य केन्द्रं भूकेन्द्रऽस्ति अतएव प्रतिमण्डलस्य मण्डलान्तरस्य केन्द्रं भूकेद्रादन्यत्र भवति अन्त्यफलज्यातुल्यान्तरे।

भा०

कक्षामण्डल के तुल्य ही इन ग्रहों के प्रतिमण्डल भी होते हैं। प्रतिमण्डल का केन्द्र भूकेन्द्र से भिन्न स्थान में होता है।

प्रतिमण्डलभूविवरं व्यासार्द्धं स्वोच्चनीचवृत्तस्य ।
वृत्तपरिधौ ग्रहास्ते मध्यमचारं भ्रमन्त्येव ॥१९॥

प्रतिमण्डलभूविवरं प्रतिमण्डलभूकेन्द्रयोरन्तरं अन्त्यफलज्यारूपं स्वोच्चनीचवृत्तस्य व्यासार्धं भवति। शीघ्रनीचोच्चवृत्तस्य व्यासार्धं शीघ्रान्त्यफलज्यातुल्यं मन्दनीचोच्चवृत्तस्य व्यासार्धं मन्दान्त्यफलज्यातुल्यमिति। ते ग्रहाः वृत्तपरिधौ मध्यमचारमेव भ्रमन्ति।

अत्रोपपत्तिः।

कक्षामण्डले मध्यमग्रहस्थानेऽन्त्यफलज्यामितकर्कटेन वृत्तं विलिख्य भूविन्दोर्मध्यग्रहोपरिगामिनी रेखा कार्या सा तत्रोच्चरेखा। तस्य वृत्तस्य रेखया सह योगौ तयोरूपरितन उच्चसंज्ञः। तद्रेखातोऽन्या तिर्यग्र वृत्तमध्ये रेखा कार्या।
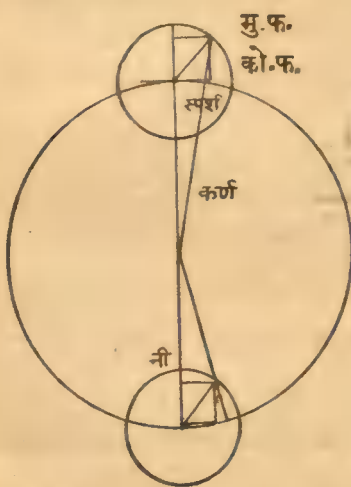
तदपि वृत्तमुच्चप्रदेशादत्राभांशैरङ्कयम्। तत्रोच्चाच्छीघ्रकेन्द्रमनुलोमं देयम्। मन्दकेन्द्रन्तु विलोमं देयम्। तत्र शीघ्रकेन्द्राग्रे पारमार्थिको ग्रहः। मन्दाग्रे मन्दस्फुटः। अत्रापि ग्रहोच्चरेखयोरन्तरं भुजफलं ग्रहतिर्यग्रेखयोरन्तरं कोटिफलं ग्रहभूम्योरन्तरं कर्णः। अथ मकरादिकेन्द्रे त्रिज्योर्ध्वतः कोटिफलं दृश्यते। कर्क्यादौ तु तदधः। अतस्तदैक्यान्तरं स्फुटा कोटिः। भुजफलं तु तत्र भुजः तयोर्वर्गयोगपदं कर्ण इति।

भा०

प्रतिमण्डलकेन्द्र भूकेन्द्र का अन्तर अन्त्यफलज्यातुल्य अपने नीचोच्चवृत्त का व्यासार्ध होता है। ग्रह सब मध्यम गति से उस नीचोच्चवृत्त की परिधि में घूमते हैं।

यः शीघ्रगतिः स्वोच्चात् प्रतिलोमगतिः स्ववृत्तकक्ष्यायाम्।
अनुलोमगतिर्वृत्ते मन्दगतिर्यो ग्रहो भवति ॥२०॥

शीघ्रगतिग्रहः स्वोच्चात् स्ववृत्तकक्षायां अर्थात् शीघ्रनीचोच्चवृत्तकक्ष्यायां प्रतिलोमगतिः गच्छति विलोमगत्या भ्रमति। मन्दगतिः यः ग्रहः स वृत्ते अर्थात् मन्दनीचोच्चवृत्ते अनुलोमगतिर्भवति। क्रमगत्या गच्छति।

अतएव शीघ्रगतिग्रहः शीघ्रोच्चाद् पृष्ठतो भवति तेन ग्रहोनं शीघ्रोच्चं शीघ्रकेन्द्रं भवति। अतो मेषादितः कन्यान्तं यावत् प्रथम द्वितीयपदे मन्दस्पष्ट ग्रहस्य स्पष्टग्रहात् पश्चात्स्थिते शीघ्रफलं मन्दस्पष्टे धनं कृत्वा स्पष्टग्रहो भवति। तुलादिकेन्द्रे तु ऋणं कृत्वा स्पष्टग्रहो भवति।

एवं मन्दगतिग्रहः मन्दनीचोच्चवृत्ते क्रमगतिस्तेन मन्दोच्चोनोग्रहो मन्द-केन्द्रमतः मेषादितः कन्यान्तं यावत् मन्दस्पष्टग्रहः मध्यमग्रहात् पृष्ठतो भवति तेन मन्दफलं मध्यमग्रहे ऋणं कृत्वा मन्दस्पष्टो भवति। एवं तुलादिकेन्द्रे फलं धनं कृत्वा मन्दस्पष्टो भवति।

भा०

शीघ्रगतिग्रह अपने उच्च अर्थात् शीघ्रोच्च से अपनी शीघ्रनीचोच्चवृत्तकक्षा में प्रति-लोम अर्थात् विपरीत गति से चलते हैं। मन्दगति ग्रह अपने वृत्त में अर्थात् मन्दनीचोच्च वृत्तमें क्रमगति से चलते हैं।

ऋणधनधनक्षयाः स्युर्मन्दोच्चाद् व्यत्ययेन शीघ्रोच्चात्।
शनिगुरुकुजेषु मन्दादर्धमृणधनं भवति पूर्वे ॥२२॥

मन्दोच्चात् शीघ्रोच्चात् व्यत्ययेन ऋणधन धनक्षयाः स्युः। मन्दात् मन्दोच्चात् शनिगुरुकुजेषु अर्धं ऋणधनं पूर्वे पूर्वफले भवति। अर्थात् मन्दोच्च-वशतः मन्दोच्चोनग्रहतो यन्मन्दफलं तन्मेषादिकेन्द्रे ऋणं तथा तुलादिकेन्द्रे धनं भवति। एवं शीघ्रोच्चाद् व्यत्ययेन शीघ्रनीचोच्च वृत्तेभ्रमणात् ग्रहोनं शीघ्रोच्चं शीघ्रकेन्द्रं भवति तेन तत्र यच्छीघ्रफलं तत् मेषादिकेन्द्रे धनं तथा तुलादिकेन्द्रे ऋणं भवति। शनिगुरुकुजेषु विशेषः कथयति। एषु ग्रहेषु मन्दात् मन्दोच्चात् यत्प्रथम-फलं मन्दफलं तस्यार्धमेव प्रथमं मध्यमग्रहे संस्कार्यं। संस्कार विधिरेषः। अजादिकेन्द्रे ऋणं तुलादिकेन्द्रे धनं कार्यम्।

भा०

मन्दोच्च से जो फल होता है वह ऋण धन होता है अर्थात् मेषादिकेन्द्रमे ऋण और तुलादिकेन्द्र में धन होता है। शीघ्रोच्च से विपरीत अर्थात् शीघ्रोच्च में ही ग्रह को घटाकर शीघ्रकेन्द्र से जो शीघ्रफल होता है वह मेषादि केन्द्र में धन तथा तुलादिकेन्द्र में

ऋण होता है। शनि, गुरू, मंगल में विशेषबात यह है कि प्रथमतः मन्दोच्च पर से जो मध्दफल होता है उसका आधा ही पहले ऋण, धन संस्कार होता है।

मन्दोच्चाच्छीघ्रोच्चादर्धमृणधनं ग्रहेषु मंदेषु।
मन्दोच्चात् स्फुटमध्याश्शीघ्रोच्चाच्च स्फुटा ज्ञेयाः ॥२३॥

मन्दोच्चात् शीघ्रोच्चाच्च मन्देषु ग्रहेषु अर्धं ऋणधनं संस्कार्यं। मन्दोच्चात् स्फुटमध्याः ग्रहाः स्युः शीघ्रोच्चाच्च स्फुटाः ग्रहाः ज्ञेयाः। अत्र चत्वारि फलानि तत्र प्रथमं मन्दोच्चहीनात् मध्यमात् मन्दफलं संसाध्य तदर्धं तत्र ग्रहे मेषादौ ऋणं तुलादौ धनं कार्यं ततः मन्दफलार्धसंस्कृतमध्यमग्रहं शीघ्रोच्चादपास्य शीघ्रफलं साध्यं तदर्धमपि तत्र संस्कार्यं तदा स्फुटमध्यो भवति। ततः तस्मिन् ग्रहे मन्दोच्चं विशोध्य मन्दफलं साध्यं तेन संस्कृतः साधितस्फुटमध्यः तदा मन्दस्पष्टग्रहो भवति तं मन्दस्पष्टं पुनः शीघ्रोच्चादपास्य शीघ्रफलं साध्यं तेन संस्कृताः मन्दस्पष्टाः शनि गुरू कुजाः स्फुटास्ते भवन्ति।

भा०

ग्रहों का स्फुटीकरण एक प्रकार का नहीं, भिन्न भिन्न आचार्यों ने जिस प्रकार दृग्गणितैक्य देखा उसी प्रकार ग्रह साधन किया है। सूर्य, चन्द्रमा में एक ही मन्दफल का संस्कार होता है। भौमादि पंचग्रह मे शनि, गुरू, मंगल मन्दगति ग्रह के लिये इस ग्रंथ में पहले मंद फल लाकर उसका आधा मध्यमग्रह में संस्कार करें, तदनन्तर मन्दफलार्ध संस्कृत ग्रह से शीघ्र फल साधन कर उसका आधा मध्यग्रह में संस्कार कर तव पुन; उस ग्रह पर से मन्द फल साधन कर फलद्वय संस्कृत ग्रह में संस्कार करें तदनन्तर उस पर से शीघ्र फल का आनयन कर मन्दफल संस्कृत ग्रह में देना तव वास्तव स्पष्ट ग्रह होता है। यहाँ चार फल का संस्कार है।

शीघ्रोच्चादर्धोनं कर्त्तव्यमृणं धनं स्वमन्दोच्चे।
स्फुटमध्यौ तु भृगुबुधौ सिद्धान्मन्दात् स्फुटौ भवतः ॥२४॥

भृगुबुधयोस्तु शीघ्रोच्चान्मध्यमहीनादुत्पन्नं शीघ्रफलं तस्यार्धं स्वमन्दोच्चे ऋणं धनं मेषादौ धनं तुलादौ ऋणं कर्त्तव्य तदा सिद्धमन्दोभवति। एवं सिद्धात् मन्दोच्चात् मन्दफलं तेन सकलेन संस्कृतौ मध्यमौ भृगुबुधौ स्फुटमध्यौ मन्दस्पष्टौ भवतः ततः शीघ्रफलसंस्कारेण स्फुटौ वास्तवौ भृगुबुधौ भवतः।

शनिजीवभूवां साधने प्रथमं मन्दफलार्धं पुनः शीघ्रफलार्धमानीय मध्यमे संस्कृतं तस्मान्मध्यमग्रहात् वास्तवमन्दफलं संसाध्य तत्र पूर्वोक्तमध्यमे संस्कृतं इह बुधशुक्रयोः साधने प्रथमं केवलं चलफलमानीय तस्यार्धं मन्दोच्चे संस्कृतं ततः संस्कृतात् मन्दोच्चात् सकलं मन्दफलमानीय मध्यमग्रहे संस्कृतमिति विशेषः। एवं भिन्नरूपेण फलानयनं कथं क्रियते तत्रोपलब्धिरेव वासना। अर्थात् एतादृशे संस्कारे कृते गणितागतो ग्रहः दृक्तुल्यतामुपैति तेनैव कारणेन फलवासना विचित्रास्ति।

भा०

बुध शुक्र शीघ्रगतिग्रह के साधन में कुछ और विशेषता है। पहले मध्यमग्रह को शीघ्रोच्च में घटाकर शीघ्र फल लावें। उस शीघ्रफल का आधा मन्दोच्च में मेषादि में धन तुलादि में ऋण करें। इस प्रकार संस्कृत मन्दोच्च पर से मन्दफल का साधन करें। वह समस्त फल मध्यमग्रह में संस्कार करने से स्फुटमध्य वा मन्दस्पष्ट होता है। उसपर से शीघ्रफल साधन कर उस मन्दस्पष्ट में संस्कार करने से स्पष्ट बुध शुक्र हो जाते हैं। कुजगुरुशनि के साधन में मन्दफलार्ध शीघ्रफलार्ध संस्कृत मध्यम पर से मन्दफल साधन किया गया है किन्तु बुध शुक्र में केवल शीघ्रफलार्ध का संस्कार है वहभी मध्यमग्रह में नहीं मन्दोच्च में किया गया है तब संस्कृत मन्दोच्च पर से मन्दफलका साधन है। यह विचित्र फलवासना इसलिये है कि ऐसा करने पर ही दृक् प्रतीति होती है।

भूताराग्रहविवरं व्यासार्धहृतः स्वकर्णसंवर्गः।
कक्ष्यायां ग्रहवेगो यो भवति स मन्दनीचोच्चे ॥२५॥

स्वकर्णसंवर्गः व्यासार्धहृतः त्रिज्यया भक्तस्तदा भूताराग्रहविवरं अर्थात् भूकेन्द्रात् ताराग्रहपर्यन्तं विवरं अन्तरं अर्थात् कर्णतुल्यं अन्तरं भवति। कक्ष्यायां यः ग्रहवेगः ग्रहगतिः सः मन्दनीचोच्चवृत्ते भवति।

अत्रोपपत्तिः।

यदि त्रिज्या व्यासार्धे मन्दकर्णः कर्णस्तदा शीघ्रकर्णव्यासार्धे क इति लब्धं भूताराग्रहविवरं अर्थात् भूकेन्द्रात्ताराग्रहपर्यन्तमन्तरं।

इति कालक्रियापादः पूर्णः।

भा०

मन्दकर्ण शीघ्रकर्ण के गुणन को व्यासार्ध त्रिज्या से भाग देने पर पृथिवी केन्द्र से ताराग्रह केन्द्र तक का ज्ञान हो जाता है। कक्षा में जो ग्रहगति मध्यमागति है उसी गति से ग्रह मन्दनीचोच्च वृत्त में घूमते हैं।

मेषादेः कन्यान्तं सममुदगपमण्डलार्धमुपयातम् ।
तौल्यादेर्मीनान्तं शेषार्धं दक्षिणेनैव ॥ १ ॥

मेषादेः कन्यान्तं अपमण्डलार्धं क्रान्तिवृत्तार्धं समं उदग् अर्थाद्विषुवद्वृत्तत उत्तरमुपयातं गतम् । शेषार्धं क्रान्तिवृत्तस्येत्यर्थः तौल्यादेर्मीनान्तं दक्षिणेन एव अर्थाद्दक्षिण दिशि स्थितम् । आचार्यसमये अयनांशाभाव आसीत् अन्यथा सायनं मेषादिषट्कं उत्तरं तथा शेषं दक्षिणदिशि विषुवद्वृत्तस्य स्थितमस्तीति ।

भा०

क्रान्तिवृत्त (जिस वृत्त में सूर्य घूमते हैं) उसका आधा मेष के प्रारम्भ से लेकर कन्या के अन्ततक विषुदवद्वृत्त से उत्तर भाग में है । जिस समय अयनांश नहीं था उस समय की यह स्थिति है । आर्यभट्ट के समय में अयनांश उपलब्ध नहीं हुआ था इसलिए ऐसा कहा है । यथार्थ में सायन मेषादि ६ राशि विषुवद् वृत्त से उत्तर में है और शेष भाग क्रान्तिवृत्त का विषुवद् वृत्त से दक्षिण भाग में है । क्रान्तिवृत्त नाडीवृत्त के योग विन्दु सायन मेषदि को विषुव कहते हैं । यह आजकल २२ मार्च को होता है उसदिन दिन रात बराबर होती है किन्तु मेष संक्रान्ति प्रति वर्ष १३ एप्रिल को होती है । अर्थात् २२ दिन पहले ही मेष संक्रान्ति के दिन से दिनरात बराबर होती है । आर्यभट्ट के समय में दिनरात बराबर १३ एप्रिल को होती थी । ज्योतिष सूर्य सिद्धान्त के मत से अयनांश सत्ताइस अंश तक है फिर यह चक्र लौटता है मेषदि विन्दु में आकार पुन; २७ अंश पूरब जायगा फिर लौट कर मेषादि विन्दु में आवेगा इस प्रकार १०८ अंश का अयनांश भगण होता है ।

तारा ग्रहेन्दुपाता भ्रमन्त्यजस्रमपमण्डलेऽर्कश्च ।
अर्काच्च मण्डलार्धे भ्रमति हि तस्मिन् क्षितिच्छाया ॥२॥

तारा ग्रहेन्दुपाताः ताराग्रहाः ताराारूपाः ग्रहाः भौमादिपञ्चग्रहाः इन्दुश्चन्द्रस्तेषां पाताः एते सर्वे अपममण्डले क्रान्तिमण्डले अजस्रं सर्वदा भ्रमन्ति । अर्कश्च सूर्यश्च अत्र मण्डले क्रान्तिवृत्ते अजस्रं भ्रमति । तस्मिन्हि मण्डले क्रान्तिवृत्ते अर्कात् सूर्यात् मण्डलार्धे षड्राश्यन्तरे हि क्षितिछाया भूभा भवति ।

अत्रोपपत्तिः ।

सूर्यत एव विरूद्धदिशि छायोत्पद्यते । सूर्यकेन्द्राद्भूकेन्द्रगामि सूत्रं यत्र क्रान्तिवृत्ते लगति तदेव भूभा मध्यस्थानं । सूर्यः क्रान्तिवृत्ते क्रान्ति

वृत्तस्य केन्द्रं च भूकेन्द्रम्। अतः सूर्याद् भूकेन्द्रगामिसूत्रं क्रान्तिवृत्तस्य व्यासत्वाद्रवितो षड्भान्तरे क्रान्तिवृत्ते लगति तेन अर्कादर्धे मही च्छाया भ्रमती त्युपपन्नम्।

भा०

तारारूप ग्रह हुए भौमादिपञ्चग्रह तथा चन्द्रमा उनका पात अपम मण्डल में अर्थात् क्रान्तिमण्डल में घूमते हैं। सूर्य भी अपने क्रान्तिमण्डल में सदा घूमते हैं। और सूर्य से छः राशि पर उसी क्रान्तिवृत्त में पृथिवी की छाया भी घूमती है। प्रकाशवान् वस्तु को कोई अवरोध होने पर विरुद्ध दिशा में अन्धकार या छाया होती है। क्रान्तिवृत्त का जिसमें सूर्य घूमते हैं केन्द्र भूकेन्द्र है। पृथिवी के केन्द्र से सूर्य के केन्द्र में जानेवाला सूत्र दूसरे भाग में छः राशि पर लगेगा क्योंकि वह सूत्र क्रान्तिवृत्त की व्यास रेखा है और वही विन्दुपृथिवी छाया का केन्द्र भी है। इसलिये सूर्य से छः राशि पर पृथिवी छाया घूमती है।

अपमण्डलस्य चन्द्रः पाताद्यात्युत्तरेण दक्षिणतः।
गुरुकुजकोणाश्चैवं शीघ्रोच्चेनापि बुधशुक्रौ ॥३॥

अपमण्डलस्य पातात् अर्थात् क्रान्तिमन्डलस्थस्वपातात् चन्द्रः उत्तरेण दक्षिणतश्च याति। यदोत्तरेण याति तदोत्तरः शरः यदा दक्षिणतोयाति तदा याम्यःशरः। एवं गुरुकुजकोणाः गुरुमंगलशनैश्चरा अपि अपमण्डलादुत्तरतः दक्षिणतश्च यान्ति। बुधशुक्रौ शीघ्रोच्चेनापि भ्रमतः। उक्तं च भास्कराचार्येण "उक्ते तयोर्ये चलतुङ्गकक्षे तत्रैव तौ च भ्रमतोऽर्कगत्या' तयोरानयनार्थम र्कस्यैव कक्षा तयोः कक्षा कल्प्या। अनयोः शरानयनाय "ये चात्र पातभगणाः पठिता ज्ञभृग्वोरि" त्यादिना उपायः प्रदर्शितो भास्कराचार्येण।

भा०

क्रान्तिमण्डल विमण्डल का संपात ही पात है अर्थात् मेषादि से उसका मान ही पात है इसलिये चन्द्रमा का पात क्रान्तिमण्डल में ही घूमता है। क्रान्तिमण्डल से स्वविमण्डल में चन्द्रमा उत्तर या दक्षिण हटा हुआ रहता है वह उनका शर कहलाता है। गुरू, मंगल, शनि का भी विमण्डल जितना क्रान्तिमण्डल से उत्तर या दक्षिण हटा हुआ रहता है वह उनका शर कहलाता है। बुध शुक्र अपने शीघ्रोच्चों से उत्तर दक्षिण क्रान्ति मण्डल के रहते हैं। इन दोनों के शर साधन के लिए भास्काराचार्य ने "ये चात्र पात भगणा इत्यादि प्रकार कहा है। आर्यभट्ट ने स्वल्प में इतना ही कहा कि बुध शुक्र अपनी

कक्षा के अनुसार नहीं किन्तु शीघ्रोच्चकक्षा के अनुसार ही उत्तर दक्षिण होते हैं तब उनका शर साधन होता है।

चन्द्रोऽशैर्द्वादशभिरविक्षिप्तोऽर्कान्तरस्थितैर्दृश्यः ।
नवभिर्भृगुर्भृगोस्तैर्द्व्यधिकैर्द्व्यधिकैर्यथा श्लक्ष्णाः ॥४॥

अविक्षिप्तः शररहितः चन्द्रः द्वादशभिरंशैः अन्तरस्थितैः सूर्यादन्तरितैः दृश्यो भवति। भृगुः नवभिरंशैरन्तरितःदृश्यो भवति। भृगोस्तैरंशैः द्व्यधिकैः अर्थादेकादशभिरंशैः पुनः द्व्यधिकैः यथा श्लक्ष्णाः पठिता-स्तेग्रहाः गुरुबुध मन्दकुजाः दृश्याः भवन्ति।

अत्रोपलब्धिरेव प्रमाणं निश्चितमाचार्यैः।

भा०

विना शर के चन्द्रादिग्रह इतने अंशतक सूर्य से अन्तरित रहने पर दृश्य होते हैं। इससे अल्प अन्तर में दृश्य नही होते। इन अंशों को परवर्ती आचार्यों ने कालांश कहा है। सूर्य से चन्द्रमा १२ अंश तक, शुक्र नव ६ अंश, गुरू ११ अंश, बुध १३ अंश, शनि १५ अंश, मंगल १७ अंश अन्तरित होने पर दृश्य होते हैं। वेध कर के ऐसा देखा गया है यही प्रमाण है।

भूग्रहभानां गोलार्धानि स्वच्छायया विवर्णानि ।
अर्धानि यथासारं सूर्याभिमुखानि दीप्यन्ते ॥५॥

भूग्रहभानां भुवः पृथिव्याः ग्रहाणां भानां च गोलार्धानि सूर्याद्विरुद्धदिशि स्थितानि स्वच्छायया स्वशरीरच्छायया विवर्णानि तेजोरहितानि अन्धकार मयानि भवन्ति। सूर्याभिमुखानि अर्धानि गोलार्धानि यथासारं यथाबलं यथातेजः दीप्यन्ते प्रकाशिता भवन्ति।

अत्र प्राचीनानां धारणा स्थूला। वस्तुतोऽर्धाधिकं बिम्बं प्रकाशितं भवति।

अत्रोपपत्तिः
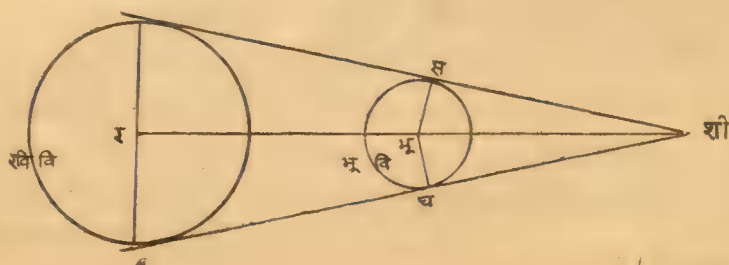
भूखशीध चतुर्भुजे सभूध कोणस्य समकोणद्वयाल्पत्वात् छायाभागः अर्धाल्प एवेति । तथा प्रकाशितभागः सूर्याभिमुखः विम्बार्धादधिको भवति ।

भा०

पृथिवी, ग्रह, नक्षत्र सबका सूर्याभिमुख आधा भाग प्रकाशित होता है तथा आधा भाग देखने में नहीं आता है जो सूर्य के विरूद्ध दिशा में पड़ता है। किन्तु प्रकाशित भाग सूर्याभिमुख आधे से ज्यादे तथा छाया रूप अन्धकार आधे से अल्प होता हैं। प्राचीन का विश्वास था कि आधा प्रकाश तथा आधा अन्धकार रहता है।

एवं लोकाः आकाशस्थविम्बस्य अर्धाल्पमेव रूपं पश्यन्ति तेन स्वीये दीर्घवृत्ते म. म. सुधाकरद्विवेदिभिरुक्तं ।

खस्थानां गोलविम्बानां रूपमर्धाल्पमेव हि ।
लोका विलोकयन्तीति स्पष्टं गोलविदा सद ॥
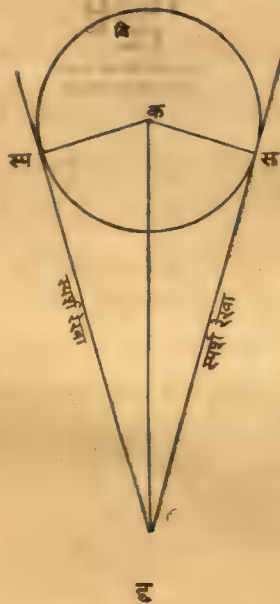
केस्पद्स्प चतुर्भुजे स्पकेस्प कोणस्य समकोणद्वयाल्पत्वात् विम्बस्य दृश्यभागः विम्बार्धादल्प एव भवति ।

भा०

इसी प्रकार पृथिवीस्थ हमलोग आकाश में जो पिण्ड; ग्रहविम्ब देखते हैं उसका अर्घाल्प ही भाग देखने में आता है। इसलिए दीर्घवृत्त में म. म. सुधाकरद्विवेदी जी ने कहा है।

यहाँ भी केस्पट्स्पे चतुर्भुज में स्पकेस्पे कोण मान दो समकोण से अल्प है इसलिये अर्घाल्प ही विम्ब जो स्पर्शरेखान्तर्गत हैं वही दृश्य होता है।

प्राचीन लोग अर्धविम्ब को दृश्य मानते थे।

वृत्तभपञ्जरमध्ये कक्ष्यापरिवेष्टितः खमध्यगतः।

मृज्जलशिखिवायुमयो भूगोलस्सर्वतो वृत्तः ॥६॥

वृत्ताकारस्य भपञ्जरस्य नक्षत्रमण्डलस्य मध्ये स्थित इति यावत् कक्ष्या चन्द्रादिग्रहाणां कक्षया परिवेष्टितः परिवृत्तः आकाशमध्यगतः निरवलम्ब स्वशक्त्यास्थित इत्यर्थः मृत् मृतिका जलशिखिवायुमयः मृत्तिकाजलाग्निवायुमयः सर्वतो वृत्तः भूगोलः पृथिवीगोलोऽस्ति।

अत्रोपपत्ति :।

पृथिवी गोलाकारास्ति अत्र विषये इदमेव प्रमाणं यत् पृथिवीं गोलाकारां प्रकल्प्य शृङ्गोन्नतिग्रहयुतिग्रहणादिकं यत्साध्यते तत्सर्वं यथावन्मिलति अन्य कल्पनया न मिलति तेनान्वययुजा व्यतिरेकप्रमाणेन पृथिवी गोलाकारा। एवं वृत्तपरिधेः शमतांशोऽपि भागः समइव प्रतिभाति। पृथ्वी महती अस्माकं दृष्टि-र्लध्वी तेन सा समा प्रतिभाति। द्वयोः पुरयोरन्तरे अक्षांशांश्च विगणय्य अनुपातः यदि अक्षांशान्तरेण पुरान्तरयोजनं तदा चक्रांशैः ३६० किमित्यनेन पृथिवीपरि-धिमानं यदागच्छति तद्वास्तमेवेति फलेन परिचीयते।

इदानीं नव्याः कथयन्ति यत् समुद्रकक्षे स्थितो द्रष्टा प्रथमं वृहन्नौकायाः मस्तूलमग्रमेव पश्यति पश्चादधः पश्यति एवं स्थितिः पृथिव्याः गोलत्वे एव भवति इत्यादि। खमध्यगत इत्यनेनैव ज्ञायते यत् पृथिवी भनावदत्तशक्त्यैव तिष्ठति। अतः सूर्यसिद्धान्तेः—

मध्ये समन्तादण्डस्य भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति।
विभ्राणः परमां शक्तिं ब्रह्मणो धारणात्मिकाम् ॥

तथा च सिद्धान्तशिरोमणौ

आकृष्टिशक्तिश्च मही तया यत् खस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत्पतीव भाति समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे॥

भा०

पृथिवी स्वरूप को कहते हैं। वृत्ताकारभपञ्जर के मध्य में चन्द्रादि ग्रहों की कक्षा से परिवेष्टित आकाशमध्य में स्थित, मृत्तिका, जल, अग्नि, वायुमय चारो ओर से गोल भूगोल है। अर्थात् पृथिवी अपनी शक्ति से आकाश में स्थित है। यह गोलाकार है इसके सम्बन्ध में प्राचीन तथा नवीन युक्तियां संस्कृत व्याख्या में वर्णित हैं।

अर्थात् सबसे बड़ा एक भचक्र है जिसके भीतर में चन्द्रादि ग्रहों की कक्षा है तथा सबके नीचे पञ्चभूतमय पृथिवी आकाश में स्वशक्ति से स्थित है।

यद्वत् कदम्बपुष्पग्रन्थिः प्रचितस्समन्ततः कुसुमैः।
तद्वद्धि सर्वसत्वैर्जलजैः स्थलजैश्च भूगोलः॥७॥

यद्वत् यथा कदम्बपुष्पग्रन्थिः कुसुमैः समन्ततः चतुर्दिशि प्रचितः व्याप्तः तद्वत् तथैव जलजैः जलोत्पन्नैः स्थलजैः सर्वसत्वैः सर्वप्राणिभिः व्याप्तः भूगोलोऽस्ति।

भा०

जिस प्रकार कदम्ब फूल की ग्रन्थि चारो ओर कुसुमों से व्याप्त है इसी प्रकार जलज एवं स्थलज प्राणियों से भरा हुआ यह पृथिवी गोल है।

ब्रह्मदिवसेन भूमेरुपरिष्टाद्योजनं भवति वृद्धिः।
दिनतुल्ययैव रात्र्या मृदुपचितायास्तदिह हानिः॥८॥

ब्रह्मदिवसेन अर्थादेकस्मिन् ब्रह्मदिने कल्पे भूमेः पृथिव्याः उपरिष्टात् योजनं एकयोजनतुल्यं वृद्धिः भवति। एकयोजनमात्रं पृथिवी उपचीयते। मृदूपचितायाः मृत्तिकया वर्धितायास्तस्याः ब्रह्मणः दिनतुल्ययैव रात्र्या हानिः क्षयोऽपि भवति। अर्थाद्ब्रह्मणः रात्रौ एकयोजनवृद्धेः क्षयोऽपि पृथिव्याः भवति।

भा०

कल्प में ब्रह्मा के एक दिन में एक योजन तुल्य पृथिवी की वृद्धि होती है। और ब्रह्मा के दिन तुल्य रात में बढ़ी हुई उतनी पृथिवी क्षीण भी हो जाती है। ऐसा अनुभव किया गया है।

अनुलोमगतिर्नौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत् ।
अचलानि भानि तद्वत् समपश्चिमगानि लंकायाम् ॥९॥

नौस्थः नौकास्थः अनुलोमगतिः क्रमगतिः यद्वत् अचलं स्थिरवृक्ष प्रासादिकं विलोमगं विरुद्धदिशायां यान्तं पश्यति तद्वत् अचलानि स्थिराणि भानि नक्षत्राणि लङ्कायां समपश्चिमगानि विषुवद्वृत्तगतानि लोकाः पश्यन्ति । वस्तुतः भानि स्थिराणि सन्ति पृथ्वी चलति किन्तु पृथिवीस्थाः लोकाः नौकास्थिता इव नक्षत्राण्येव चलानि पश्यन्ति । वस्तुतः पृथिवी चलति । अयमेव भावः ।

भा०

पृथिवी के चलने में प्रमाण । नौका पर बैठा हुआ मनुष्य क्रमगति से जाती हुई नाव पर देखता है कि प्रसाद, वृक्ष, पर्वत आदि स्थिर वस्तु विरूद्ध दिशा में जारहे हैं । इसी प्रकार लङ्का में स्थिर नक्षत्रादि पश्चिम दिशा में जाते हुए मालूम पड़ते हैं । इसी प्रकार वास्तव में नाव चलती है, प्रासाद वृक्ष आदि स्थिर हैं । फिर भी अचल वस्तु चल और चल वस्तु स्थिर मालूम होती है । इस प्रकार लंका में स्थिर नक्षय चलते हुए मालूम पड़ते हैं, पृथिवी स्थिर । यथार्थ में नावों की तरह पृथिवी चलती है और प्रासाद, वृक्ष की तरह नक्षत्र आकाश में स्थिर हैं ।

उदयास्तमयनिमित्तं नित्यं प्रवहेण वायुना क्षिप्तः ।
लंकासमपश्मिगो भपञ्जरस्सग्रहो भ्रमति ॥ १० ॥

सग्रहः भपञ्जरः प्रवहेण वायुना क्षिप्तः प्रेरितः लंकासमपश्चिमगः लंकापूर्वापरवृत्तगतः नित्यंउदयास्तमयनिमित्तं उदयास्तहेतोः भ्रमति । अर्थात् प्रवह वायुनैव भपञ्जरश्चालितो भ्रमति ।

एषः पूर्वसिद्धान्तात् पृथिवीचलनरूपात् विपरीतः सिद्धान्तः प्राचीनविचारानुगतः ।

भा०

उदय अस्त के लिए प्रवह वायु से चलाया हुआ ग्रह सहित भपञ्जर लंका में पश्चिम की ओर घूमता है ।

यह स्थिर विश्वास भारतीय शास्त्र में वर्णित है जिसको आर्यभाट्ट ने कहा है पहले श्लोक में स्वविचार कहा है ।

मेरूर्योजनमात्रः प्रभाकरो हिमवता परिक्षिप्तः ।
नन्दनवनस्य मध्ये रत्नमयस्सर्वतो वृत्तः ॥११॥

योजनमात्रः योजनप्रमणं रत्नमयः प्रभाकरः कान्तिमान् हिमवता हिमालयेन परिक्षिप्तः धृतः सर्वतो वृत्तः मेरूः नन्दनवनस्य मध्ये स्थितोऽस्ति।

भा०

एक योजन प्रमाण रत्नमय अतएव कान्तिमान् हिमालय से धृत चारो ओर गोल नन्दन वन के मध्य में स्थित मेरू है।

स्थर्मेरू स्थलमध्ये नरको वड़वामुखश्च जलमध्ये।
अमरमरा मन्यन्ते परस्परमधः स्थितान्नियतम्॥ १२ ॥

स्थलमध्ये पृथिव्यां मेरूः स्वः स्वर्गोऽस्ति। जलमध्ये जले वड़वामुखश्च नरकोऽस्ति। अमरा देवाः स्वर्गवासिनः मराः दैत्याः नरकवासिनः नियतं निश्चयेन परस्परं अधः स्थितान् मन्यन्ते।

भा०

स्थलमध्य मे पृथिवी पर मेरू स्वर्ग है। जलमध्य में अर्थात् जल में बड़वामुख नरक है। स्वर्ग में रहने वाले देवता नरक में रहने वाले दैत्य परस्पर अपने को एक के ऊपर मानते हैं। गोल पृथ्वी में ऐसी स्थिति होती ही है। जहाँ जो रहता है वह अपने से विरूद्ध दिशा में स्थित को अपने से नीचे और अपने को उससे उपर मानता है।

उदयो यो लंकायां सोऽस्तमयस्सवितुरेव सिद्धपुरे।
मध्याह्नो यवकोटयां रोमकविषयेऽर्धरात्रः स्यात्॥१३ ॥

लंकायां लंकानगर्यां यः उदयः सः सिद्धपुरे सवितुः सूर्यस्यास्तमयः तदैव यवकोटयां मध्याह्नः रोमकविषये रोमदेशे तदैवार्धरात्रः स्यात्। अस्माकं ज्यौतिषे लंका पृथिव्याः मध्ये स्थिता कल्पिता तदा लंकातः पश्चिम पूर्वाधः त्रीणि प्रसिद्ध स्थानानि नवत्यंशान्तरे षड्भान्तरेच स्थितानि सन्ति। अर्थाल्लंकातः पूर्वस्यां दिशि नवत्यंशे यवकोटिः पश्चिमे नवत्यंशे रोमकनगरं, अधः षड्भान्तरे सिद्धपुरं। अतो यदा लंकायामुदयस्तदा यवकोटयां दिनार्धं सिद्धपुरे अस्तकालः रोमके रात्रिदलं भवति। अर्थाल्लंकाक्षितिजमेव यवकोटेः रोमकस्य च याम्योत्तरवृत्तम्। अतो यदा लंकायामुदयः तदा रविः यवकोटेरूर्ध्वं याम्योत्तरे भवति तेन तत्र दिनार्धं यदा तत्र दिनार्धं तदा रोमकपुरे रात्र्यर्धं अधोयाम्योत्तरवृत्ते स्थितत्वात्। दिनार्धरात्र्यर्धयोर्मध्ये सिद्धपुरेऽस्तकालः।

भा०

जिस समय लंका में सूर्योदय होता है उस समय सिद्धपुर में सूर्य अस्त होता है। उसी काल में यवकोटि में दोपहर तथा रोमक देश में आधीरात होती है। लंका का क्षितिज वृत ही यवकोटि तथा रोमक नगर का याम्योत्तर वृत्त है यवकोटि पूर्व भाग में ६० अंश पर है और रोमक पश्चिम भाग में। इसलिये सूर्य का उदय जब लंका में होता है तो यवकोटि में दोपहर तथा रोमक अधोयाम्योत्तरवृत्त में दो पहर रात होती है इसलिये दोपहर दिन दोपहर रात के बीच में सिद्धपुर में अस्त काल होता है।

स्थलजलमध्याल्लङ्का कक्ष्याया भवेच्चतुर्भागे।

उज्जयिनी लंकायास्तच्चतुरंशे समोत्तरतः ॥१४॥

स्थलमध्यात् मेरोः जलमध्यात् बड़वामुखाच्च भूकक्ष्यायाः चतुर्थभागे अर्थान्नवत्यंशे लंका स्थितास्ति। तथा लंकायाः समोत्तरतः अर्थात् वास्तवोत्तरस्यां दिशि तच्चतुरंशे अर्थान्नवत्यंशस्य चतुर्थांशे २२/३० उज्जयिनी नाम प्रसिद्धा नगरी। लंकावत् उज्जयिन्या अपि प्रसिद्धिः पूर्वस्मिन् काले आसीदिति। कस्यचिन्मते उज्जयिनी लंकातः पृथिव्याः पञ्चदशांशे अर्थात् २४° अंशे स्थितास्ति। अर्थात् आर्यभटमते उज्जयिन्या अक्षांशाः २२/१०′ ब्रह्मगुप्तमते २४° अक्षांशाः स्वीकृताः।

भा०

स्थलमध्य मेरू से तथा जलमध्य बड़वामुख से पृथिवी कक्षा के चतुर्थांश में अर्थात् ६० अंश पर लंका है। मेरू से दक्षिण भाग में नवें अंश पर तथा उड़वामुख से नवें अंश उत्तर में लंका हैं। उज्जयिनी (उज्जैन) लंका से ठीक उत्तर दिशा में उसके चतुर्थांश अर्थात् २२/३० साढ़े बाईस अंश पर है।

ब्रह्मगुप्त के मत से २४° अक्षांश पर उज्जैन है आजकल के पञ्चाङ्गो में २३/११ अक्षांश उज्जयिनी का लिखा हुआ है। प्राचीन काल में उज्जैन भी शास्त्रचर्चा में विशेष कर ज्योतिष गणित की चर्चा के लिये प्रसिद्ध थी। लंका अगम्य होने के कारण सब गणना उज्जैन से की जाती थी। यही उज्जैन कवि कालिदास तथा बैज्ञानिक वराहमिहिर का भी कर्मक्षेत्र थी चूंकि इस नगर के राजा दानवीर पराक्रमी विक्रमादित्य थे। क्योंकि न निराश्रया न निष्ठन्ति पण्डिता वनिता लता।" यह चिरप्रसिद्धि है। अत एव उज्जैन विद्वानों का आश्रय स्थान भारत में प्राचीन काल में विशेष कर आर्यभट के समय में था इसीलिए उन्होंने लंका के साथ उज्जैन की चर्चा की है।

भूव्यासार्धेनोनं दृश्यं देशात्समाद्भगोलार्धम् ।
अर्धं भूमिछन्नं भूव्यासार्धाधिकं चैव ॥१५॥

समादेशात् पर्वतादिव्यवधानरहितात् भूव्यासार्धेन ऊनं भगोलार्धं दृश्यं भवति । तथा भूव्यासार्धाधिकं अर्धं भगोलस्य भूमिछन्नं अदृश्यं भवति ।

अत्रोपपत्तिः ।

वयं भूमेरुपरि तिष्ठामस्तेन कुछन्नं भागं न पश्यामः अत एव

१८० – २ कुछन्नकला = दृश्यभागः

१८० + २ कुछन्नकला = अदृश्यभागः
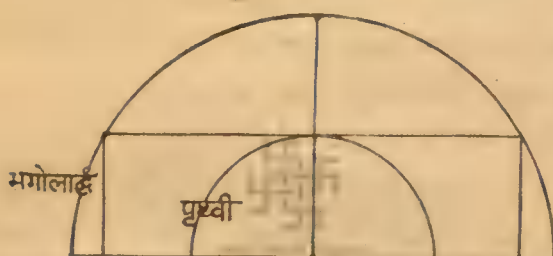
भा०

भूव्यासार्ध से घटा हुआ भगोलार्ध ही सम प्रदेश से देखने योग्य होता है क्योंकि कुछन्न प्रदेश देखने में नहीं आता। अत एव १८० – २ कुछन्नकला ही दृश्यभाग भगोल का होता है तथा शेष १८० + २ कुछन्नही अदृश्यभाग है।

देवाः पश्यन्ति भगोलार्धमुदग्मेरुसंस्थिताः सव्यम् ।
अपसव्यगं तथार्धं दक्षिणबड़वामुखे प्रेताः ॥१६॥

उदग्मेरु संस्थिता देवाः भगोलार्धं सव्यं पश्यन्ति। तथा दक्षिणबड़वा मुखे स्थिताः प्रेताः नरकाः भगोलस्यार्धं अपसव्यगं पश्यन्ति स्वस्थानाभिप्रायेणेति ।

भा०

उदग्मेरु स्थित देवता लोग भगोल के आधे का सव्य भाग देखते हैं तथा दक्षिण बड़वामुख स्थित दानव भगोलर्ध का अपसव्य भाग देखते हैं ।

रविवर्षार्धं देवाः पश्यन्त्युदितं रविं तथा प्रेताः ।
शशिमासार्धं पितरश्शशिगाः कुदिनार्धमिह मनुजाः ॥१७॥

देवाः मेरुस्थाः तथा प्रेताः वडवामुखस्थाः रविवर्षार्धं षण्मासं उदितं रविं पश्यन्ति । विषुवद्वृत्तं देवानां क्षितिजं अतो विषुवद्वृत्तादुत्तरदिशि यावद्रवि भ्रमति तावत् कालं देवाः सूर्यं पश्यन्ति । यदा देवानां दिनं तदा दैत्यानां रजनी एवं यदा दैत्यानां दिनं तदा देवानां रजनी द्वयोरहोरात्रं तुल्यमेव । शशिगाः चन्द्र-मण्डलस्थाः पितरः शशिमासार्धं चन्द्रमासार्धं पक्षप्रमाणं उदितं रविं पश्यति तथा मनुजाः मनुष्याः कुदिनार्धं सावनदिनार्धं उदितं रविं पश्यति ।

भा०

देवता तथा दैत्य आधे सूर्य वर्ष तक सूर्य को उदित देखते है । जब देवता का दिन तब दैत्य की रजनी, जब दैत्य का दिन तब देवताओं की रात रहती है । इसकी उपपत्ति पहले हो चुकी है चान्द्रमास के आधा एक पक्ष कृष्ण साढ़े सप्तमी से लेकर शुक्ल की साढ़े सप्तमी तक चन्द्रपृष्ठ पर बसनेवाले पितरों के दिन होते हैं तथा लंकावासी मनुष्य के लिए आधा सावन दिन का दिन होता है ।

पूर्वापरमध ऊर्ध्वमण्डलमथ दक्षिणोत्तरञ्चैव ।
क्षितिजं समपार्श्वस्थं भानां यत्रोदयास्तमयौ ॥१८॥

पूर्वापरं पूर्वपश्चिमविन्दुगतं अधः ऊर्ध्वं च गतं यद्वृत्तं तत्पूर्वापराख्यं एवमध ऊर्ध्वगतं दक्षिणोत्तरगतञ्चैकं वृत्तं कार्यं तद्याम्योत्तरवृत्तम् । समपार्श्वस्थं अवनौ लग्नं वृत्तं क्षितिजं । यत्र वृत्ते भानां नक्षत्राणां ग्रहाणाञ्च उदयास्तमयौ उदयमस्तं च भवति । यदा विम्बं क्षितिजादुपरि तदोदितं यदा च क्षितिजादधः तदास्तमिति ।

भा०

पूर्व, पश्चिम, अध ऊर्ध्व गया हुआ वृत्त पूर्वापरवृत्त कहलाता है । इसी प्रकार दक्षिण उत्तर और ऊर्ध्व अध गया हुआ वृत्त याम्योत्तरवृत्त या दक्षिणोत्तरवृत्त कहलाता है । पृथिवी में चारो ओर लगा हुआ वृत्त क्षितिजवृत्त कहलाता है जिसमें नक्षत्रों का तथा ग्रहों का उदय अस्त होता है । उदय क्षितिज में उदय तथा अस्त क्षितिज में अस्त होता है ।

पूर्वापरदिग्लग्नं क्षितिजादक्षाग्रयोश्च लग्नं यत् ।
उन्मण्डलं भवेत्तत् क्षयवृद्धी यत्र दिवसनिशोः ॥ १६ ॥

पूर्वापर दिशोर्लग्नं क्षितिजवृत्तात् अक्षांशाग्रे याम्योत्तरयोर्लग्नं अर्थात् ध्रुवयो लंग्नं यद् वृत्तं वदुन्मण्डलं भवेत् । यत्र वृत्ते दिवसनिशोः क्षयवृद्धी दृश्येते ।
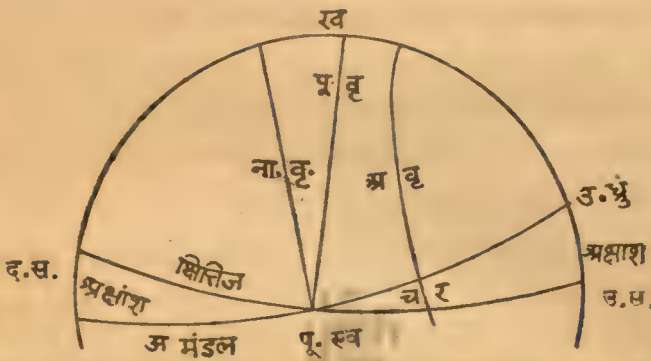
भा०

पूर्व और पश्चिम दिशा में संलग्न क्षितिजवृत्त से अर्थात् समस्थान से दक्षिण उत्तर दिशा में अक्षांशाग्र में लग्न अर्थात् दोनों ध्रुव में लगा हुआ जो वृत्त है उसको उन्मण्डल या लंकाक्षितिजवृत्त कहते है जिस वृत्त से ही दिन रात की क्षीणता औ वृद्धि मालूम पड़ती है । उन्मण्डल और क्षितिज वृत्त के मध्य में अहोरात्र वृत्त में जो काल है उसको चर कहते हैं । उत्तर गोल में जब सूर्य रहते हैं तो तीस दण्ड में द्विगुना चर को जोड़ देने से दिनमान होता है तथा ३० दण्ड में द्विगुना चर को घटा देने से रत्रिमान होता है और दक्षिण गोल में द्विगुण चर को तीस दण्ड में घटा देने पर दिन मान और जोड़ देने पर रात्रिमान होता है ।

पूर्वापरदिग्रेखाधश्चोर्ध्वा दक्षिणोत्तरस्था च ।
एतासां संपातो द्रष्टाययस्मिन् भवेद्देशे ॥२०॥

पूर्वापरदिग्गता पूर्वापरारेखा अध ऊर्ध्वं च गता या रेखा तथा दक्षिणोत्तरस्था या रेखा एतासां संपातः योगः तस्मिन् देशे प्रदेशे भवति यस्मिन् स्थाने

द्रष्टा स्थितोऽस्ति भूपृष्ठ इति। कल्प्यते टरछल वृत्तं यस्य के केन्द्रं केर प्रवेश छाया केप निर्गम छाया, पछ छायाग्रगता अवास्तव पूर्वापरा। अत्र रछ संस्कारः क्रियते तदापर वास्तवपूर्वापरा। केन्द्रे अस्याः समानान्तरा करणीया तदा लट पूर्वापरा। केन्द्रात् अस्या उपरि लम्ब रेखा चथ दक्षिणोत्तरा।

भा०
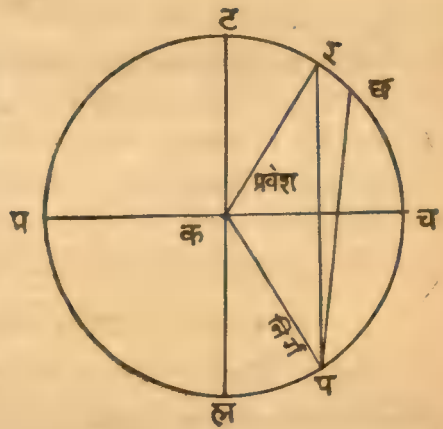
द्रष्टा भूपृष्ट पर जहाँ रहता है वहाँ पर पूर्वापरा रेखा दक्षिणोत्तरा रेखा तथा ऊर्ध्वाधो रेखा का योग होता है अर्थात् पहले पूर्वापरा रेखा का साधना तदनन्तर याम्योत्तरा और खस्वस्तिक गता ऊर्ध्वाधः रेखा का साधन करना चाहिये। जिस दिशा में सूर्य नारायण उदित होते हैं वह पूर्व दिशा, जिस दिशा में अस्त होते हैं वह पश्चिम दिशा तथा जिधर मेरू है वह उत्तर दिशा मानी जाती है। पूर्वापरा रेखा साधन करने के लिए प्राचीनों की रीति यह थी कि समान पृथ्वी पर एक वृत्त खींचकर वृत्त के केन्द्र में एक द्वादशअंगुल शंकु का स्थापना कर देखते थे कि सूर्य की छाया का अग्र इस वृत्तमें कब प्रवेश करता है तथा कब छायाग्र निकलती है। उसी को पश्चिम पूर्व समझते थे, फिर उसमें क्रान्तिज्यान्तर संस्कार देकर वास्तवपूर्वापरा रेखा का साधन करते थे। पूर्वापरा ठीक हो जाने पर मत्स्योत्पादन के द्वारा उसपर लम्ब रेखा दक्षिणोत्तरा समझी जाती थी और खस्वस्तिक में जाने वाली रेखा ऊर्ध्व रेखा है।

ऊर्ध्वमधस्ताद् द्रष्टुर्ज्ञेयं दृङ्मण्डलं ग्रहाभिमुखम्।
दृक्क्षेपमण्डलमपि प्राग्लग्नं स्यात् त्रिराश्यूनम् ॥२१॥

द्रष्टुः दर्शकस्य ऊर्ध्वं अधस्तात् ग्रहाभिमुखं वृत्तं दृङ्मण्डलं ज्ञेयम्। प्राग्लग्नं पूर्वभागे लग्नं क्रान्तिवृत्तं प्रथमलग्नमिति यावत् त्रिराश्यूनं वित्रिभं तदा तदेव दृक्क्षेपमण्डलमपिस्यात् अर्थात् दृक्षेपमण्डले वित्रिभं भवति।

ग्रहोपरिगतं खस्विक लग्नं वृत्तं दृङ्मण्डलम्। एवं क्रान्तिवृत्तपूर्वक्षितिज योगरूपलग्नोत्पन्नं त्रिज्यावृत्तमपि दृङ्मण्डलाकारमेव दृक्क्षेपमण्डलं तत्र दृक्क्षेपमण्डल क्रान्तिवृत्तसंपातो वित्रिभं त्रिराश्यूनं लग्नमिति।

भा०

दर्शक के अनुसार खस्वस्तिक अधः स्वस्तिक में गया हुआ ग्रह में संलग्न जो वृत्त होता है उसे दृङ्मण्डल कहते हैं। क्रान्तिवृत्त क्षितिजवृत्त का पूर्व संपात प्रथम लग्न कहलाता है। लग्नोत्पन्न त्रिज्यावृत्त भी दोनों खस्वस्तिक में जायगा इसलिये वह वृत्त भी दृक्षेपमण्डल कहलाता है। वह क्रान्ति वृत्त में उपर जहां लगता है उसको वित्रिभ कहते हैं।

काष्ठमयं समवृत्तं समन्ततः समगुरु लघुं गोलम्।
पारततैलजलैस्तं भ्रमयेत् स्वधिया च कालसमम् ॥२२॥

काष्ठमयं वंशादिकाष्ठनिर्मितं समवृत्तं सर्वतो वृत्तं समन्ततः समगुरु सर्वावयवेषु समं गुरुत्वं यथा भवति तथा कृतं। लघुं अगुरुं रचयित्वा पारततैलजलैस्तं कालसमं निश्चितकाले जलस्रावकं स्वधिया भ्रमयेत्। इदं स्वयंवहयन्त्रं पश्चाद्भास्कराचार्यादिभिरपि वर्णितं। अस्य युक्तिः स्वयमेव ज्ञातुंशक्या, गणितयुक्तिवद् दुर्विज्ञेयत्वाभावात्।

भा०

काष्ठमय लोहमय नहीं वंशादिकाष्ठ से निर्मित समवृत्त सब अवयव में समान गुरू का लघु गोल बनावे पारा तेल जल के संमिश्रण से जल का प्रवाह इस प्रकार होता है कि निश्चित काल में निश्चित परिमाण का जल निकल सके। यह स्वयंवह यन्त्र है। भास्कराकार्यादि गणकों ने भी भिन्न भिन्न प्रकार से स्वयंवह यन्त्र का निर्माण बतलाये हैं। इस में पारे का सम्बन्ध विशेष कारगर है। संभव है इन्हीं यन्त्रों के आधार से युरोपीय लोग अनेक यन्त्रों के निर्माण में सफल हुए हों। ज्योतिष के ग्रन्थ में इस विषय की चर्चा इसलिये है कि यन्त्राध्याय एक अध्याय ही ज्योतिष ग्रन्थों में है। द्वितीय ऐसे यन्त्रों के देखने से लोगों में कुतूहलता उत्पन्न होती है।

दृग्गोलार्धकपाले ज्यार्धेन विकल्पयेद्भगोलार्धम्।
विषुवज्जीवाक्षभुजा तस्यास्त्ववलम्बकः कोटिः ॥२३॥

दृग्गोलार्धकपाले दृश्ये गोलार्धे भागे ज्यार्धेन अक्षज्यादिना भगोलार्धं विकल्पयेत्। विषुवज्जीवा अक्षभुजा अक्षज्यातः साधिता भवति। तस्याः विषुवज्यायाः अवलम्बकः शंकुरेव कोटिः।

विषुवद्दिने मध्याह्ने अर्थान्मध्याह्नकाले एव विषुवद्दिनं चेद्भवति तदा द्वादशाङ्गुलशंकोश्छाया विषुवती, विषुवज्ज्या पलभेत्युच्यते।

निरक्षमध्ये यदा रविः तदा द्वादशांगुलशंकुस्तथा स्थापितो येन छायाग्रं केन्द्रे याति तदा द्वादशांगुल शंकोरियं छाया विषुवती पलभा वा। इदं क्षेत्रं अक्षज्या, लम्बज्या, त्रिज्याक्षेत्रस्य सजातीयम्।
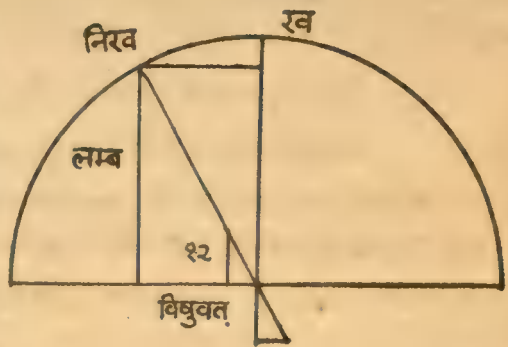
अथवा द्वादशाङ्गुल शङ्कुः पृथिव्या अधः तथा स्थापितः येन शंक्वग्रं केन्द्रे भवति तदापि या छाया सा विषुवती। इदमपि क्षेत्रं पूर्ववर्णिताक्षक्षेत्रस्य सजातीयं पलभाक्षेत्रम्।

भा०

दृश्यगोलार्ध भाग में, अक्षज्या लम्बज्या से भगोलार्ध की कल्पना करनी चाहिए। वहां अक्षज्या के संबन्ध से ही विषुवज्या विषुवती होती है जिसमें लम्बरूपद्वादशाङ्गुलरूप शंकु कोटि होती है। अर्थात् विषुवद्वृत क्रान्तिवृत्त का संपात यदि मध्याह्न में अर्थात् याम्योत्तरवृत्त में हो तो उस काल में द्वादशाङ्गुल शंकु की छाया विषुवती कहलाती है।

इष्टापक्रमवर्गं व्यासार्धकृतेर्विशोध्य यन्मूलम्।
विषुवदुग्दक्षिणतस्तदहोरात्रार्धविष्कम्भः ॥२४॥

इष्टापक्रमवर्गं इष्टक्रान्तिज्यावर्गं व्यासार्धकृतेः त्रिज्यावर्गादपास्य यन्मूलं तत् विषुवद्वृत्तादुदग्दक्षिणतो वा अहोरात्रार्धविष्कम्भः अर्थात् अहोरात्रवृत्तस्य विष्कम्भार्धं व्यासार्धं द्युज्यारूपं भवति।

अहोपरि ध्रु₂वप्रोतवृत्तं कार्यं तन्नाडीमण्डले यत्र लग्नं तस्मात् स्थानाद्ग्रहावधिः ध्रुवप्रोत वृत्ते क्रान्तिः। तस्याः क्रान्तेः या ज्या तद्वर्गं त्रिज्यावर्गाद्विशोध्य शेषस्य मूलं द्युज्या अहोरात्रवृत्तव्यसार्धमित्यर्थः।

भा०

इष्टक्रान्तिज्यावर्ग को त्रिज्या वर्ग में घटाकर मूल लेने से द्युज्या वा अहोरात्रवृत्त व्यासार्ध होता है। ध्र$_2$व को केन्द्रमानकर द्युज्याव्यासार्ध से जो वृत्त होता है

उसको अहोरात्रवृत्त कहते हैं। यह अहोरात्रवृत्त उत्तरगोल में सूर्य के रहने से विषुवद्वृत्ति के उत्तर में होता है और दक्षिण गोल में विषुवद्वृत्त से दक्षिण होता है।

इष्टज्यागुणितमहोरात्रव्यासार्धमेव काष्ठान्त्यम्।
स्वाहोरात्रार्धहृतफलमजाल्लङ्कोदयप्राग्ज्याः ॥२५॥

काष्ठान्त्यं परमापक्रमस्थितौ अहोरात्रव्यासार्धं अर्थात् परमाल्पद्युज्या व्यासार्धं इष्टज्या भुजज्यया गुणितं स्वाहोरात्रार्धेन स्वद्युज्यया हृतं फलं अजात्मेषादेःलङ्कोदय रूपा प्राग्ज्या प्राग परवृत्त अर्गान्नाड़ीवृत्त ज्या भवति। उदयमानज्येत्य र्थः।
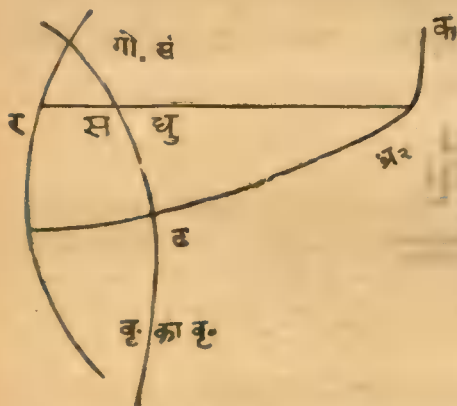
अत्र गोर – नाड़ीवृत्तम्
गोस – क्रान्तिवृत्तम्
ध२क = अयनप्रोतवृत्तम्
ध२ट = परमाल्पद्यु ज्याचापांशाः
घ्रसट गोसर त्रिभुजयोः ज्या क्षेत्रस्य साजात्यात्

$$\text{ज्या गोर} = \frac{\text{परमाल्पद्यु} \times \text{इष्टज्या}}{\text{द्यु}}$$

= लङ्कोदयमानज्या इत्युपपन्नम्।

भा०

काष्ठान्त्य में अर्थात् अयन के अन्त में अहोरात्रवृत्तव्यासार्ध अर्थात् परमाल्पद्युज्या को इष्टभुजज्या से गुणा करें। स्वद्युज्या से अर्थात् मेषान्त, वृषान्त की द्युज्या से भाग दें तो फल मेषादि से लंकोदयज्या होगी।

इष्टापक्रमगुणितामक्षज्यां लम्बकेन हृत्वा या।
स्वाहोरात्रे क्षितिजा क्षयवृद्धिज्या दिननिशोस्सा ॥२६॥

इष्टापक्रमगुणितां इष्टक्रान्तिज्या गुणितां अक्षज्यां लम्बकेन लम्बज्यया हृत्वा तदा या लब्धिः सा स्वाहोरात्रे स्व अहोरात्रवृत्ते क्षितिजा कुज्या भवति। सैव दिननिशोः क्षयवृद्धिकारिणी ज्या जीवा भवति।

अक्षज्या, लम्बज्या, त्रिज्या इत्येकं अक्षक्षेत्रं कुज्या क्रान्तिज्या अग्रा इति द्वितीयं। द्वयोः क्षेत्रयोः साजात्यमस्त्येव तेन

$$\text{कुज्या} = \frac{\text{ज्या अ} \times \text{अग्रा}}{\text{ज्या लं}}$$

$$\text{ततो } \frac{\text{कुज्या} \times \text{त्रि.}}{\text{द्यु}} = \text{ज्याचर अस्याश्चापं चरपलं अनेनोनं}$$

पञ्चदश याम्यगोले दिनार्धं तथा चरपलेन सहितं पञ्चदश उत्तरगोले दिनार्धं भवति।

अर्थादुत्तरगोले द्विगुण-चरघटीयुक्ता त्रिंशन्नाड़िका दिनप्रमाणं तदूना त्रिंशद्रात्रिमानं। एवं दक्षिणगोले द्विगुणचरघटीविहीना त्रिंशन्नाड़िका दिनप्रमाणं तथा तदधिका त्रिंशन्नाड़िका रात्रिप्रमाणं भवति।

भा०

इष्टक्रान्तिज्या को अक्षज्या से गुण दें तथा लम्बज्या से भाग दें तो कुज्या होती है। दिन-रात के क्षय वृद्धि में यही कारण होती है।

उदयति हि चक्रपादश्चरदलहीनेन दिवसपादेन।
प्रथमोऽन्त्यश्चाथान्यौ तत्सहितेन क्रमोत्क्रमतः ॥ २७ ॥

चक्रपादः क्रान्तिवृत्तस्य प्रथमं पदं मेषादितो मिथुनान्तं यावत् स्वदेशे चरदलहीनेन दिवसपादेन पञ्चदश घटीभिः उदयति। एवमन्त्यः पादः मीनकुम्भ मृगाख्यः चरदलहीनाभिः पञ्चदशघटिकाभिरुदयं याति। अर्थान्मकरतः मिथुनान्तं यावत् षण्णांराशीनांलंकोदयाः तद्राशिभव चरदलासुभिर्हीनाः स्वदेशोदया भवन्ति। अन्यौ द्वौ पादौ कर्कतः धन्वन्तं यावत् षण्णां राशीनां लंकोदयाः तद्राशिभवचरदलासुभिः सहिताः स्वदेशोदया भवन्ति। क्रमोत्क्रमतः अर्थात् प्रथमपादे क्रमतः हीनाः द्वितीयपादे उत्क्रमतः योज्याः अर्थान्मिथुनस्य चरदलं कर्के योज्यं वृषस्य चरदलं सिंहे योज्यं तथा मेषस्य चरदलं कन्यायां योज्यं। तृतीयपदेऽपि उत्क्रमतः योज्याः। चतुर्थपदे क्रमतः हीनाः अर्थात् मेषस्य चरं

मीनचरं वृषस्यचरं कुम्भचरतुल्यं तथा मिथुनस्य चरं मकरचरतुल्यं क्रमतो हीनं तदा तेषां मानानि भवन्ति।
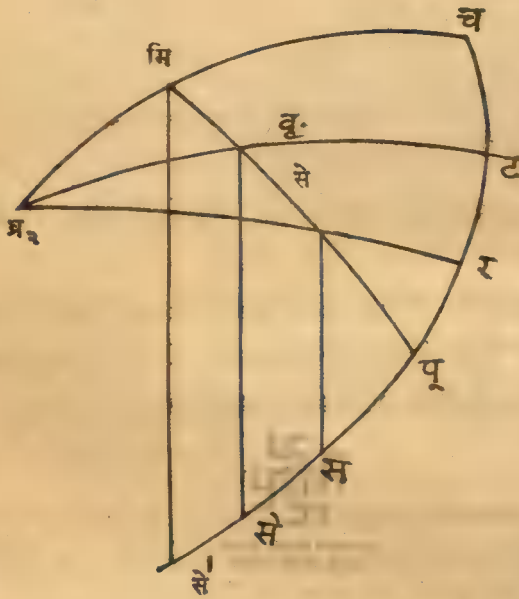
कल्प्यते पूमि = स्वक्षितिजम्

च सै = नाडीवृत्तम्

मे = क्षितिजे मेषान्ताबिन्दुः

वृ = वृषान्तविन्दुः

मि = मिथुनान्तविन्दुः

स = मेषान्ते क्रान्तिवृत्तक्षितिजसंपातः

से = वृषान्ते क्रान्तिवृत्त क्षितिजवृत्त-संपातः

सै = मिथुनान्ते क्रान्तिवृत्त क्षितिजवृत्त-संपातः

पूर = मेषान्तस्य चरम्

पूट = वृषान्तस्य चरम्

पूच = मिथुनान्तस्य चरम्

सर = मेषस्य निरक्षोदयमानं

संट = वृषान्तस्य निरक्षोदयमानं

सैच = मिथुनासैन्तस्य निरक्षोदयमानं

पूस = मेषान्तस्य स्वोदयमानं

पूसे = वृषान्तस्य स्वोदयमानं

पूसै = मिथुनान्तस्य स्वोदयमानं

अतः मेनि उ – मेच = मे. स्वोदय

वृ. नि. उ – वृच = वृ. स्वोदय

मि. नि. उ – मिच = मि. स्वोदय

एव मन्ये स्वोदयाः ज्ञातव्याः ।

स्वाहोरात्रेष्टज्यां क्षितिजादवलम्ब काहतां कृत्वा ।

विष्कम्भार्धविभक्ते दिनस्य गतशेषयोश्शङ्कुः ॥२८॥

क्षितिजात् स्वाहोरात्रेष्टज्यां इष्टहृतिं अवलम्बकहतां लम्बज्यया गुणितां कृत्वा विष्कम्भार्धविभक्ते त्रिज्यया विभाजिते दिनस्य गतशेषयोः अर्थात् इष्टकालस्य शंकुर्भवति ।

इष्टहृतिः शंकुतलं शंकुः इत्येकं अक्षक्षेत्रं, तथा त्रिज्याऽक्षया, लम्बज्येत्यन्यत् अक्षक्षेत्रं ।

$$\text{ततः शंकुः} = \frac{\text{ज्यालं} \times \text{इष्टहृति}}{\text{त्रि}}$$

इत्युपपन्नम्

भा०

क्षितिज से स्व अहोरात्रवृत्त की इष्टज्या अर्थात् इष्टहृत्ति को लम्बज्या से गुण दें तथा त्रिज्या से भाग दें तो इष्ट शंकु हो जाता है ।

विषुवज्जीवागुणितः स्वेष्टः शङ्कुः स्वलम्बकेन हृतः ।

अस्तमयोदयसूत्राद्दक्षिणतः सूर्यशंक्वग्रम् ॥२९॥

विषुवज्जीवागुणितः स्वेष्टः शंकुः स्वलम्बकेन द्वादशांगुलशंकुना हृतः तदा अस्तमयोदयसूत्रात् उदयास्तसूत्राद्दक्षिणतः सूर्यशंक्वग्रं (शंकुमूलं) यावत् शंकुतलं भवति ।

विषुवती, १२, विषुवत्कर्ण इत्येकं अक्षक्षेत्रं एवं शंकुतलं, इष्टशंकुः, इष्टहृतिः इदमन्यदक्षक्षेत्रं । क्षेत्रद्वयं सजातीयं तेन ।

$$\text{शंकुतल} = \frac{\text{विषु} \times \text{इ. शं}}{१२}$$

सूत्रदिशा शङ्कुतलं यमाशं तेन शङ्कुतलं सदा यमाशं दक्षिणदिक्कं भवति ।

भा०

इष्टशंकु को विषुवती से गुण दें तथा द्वादश शंकु से भाग दें तो शंकुतल हो जाता है ।

परमापक्र मजीवामिष्टज्यार्धाहतां ततो विभजेत् ।
ज्यालम्बकेन लब्धार्काग्रा पूर्वापरे क्षितिजे ॥ ३० ॥

परमापक्रमजीवां परमक्रान्तिज्यां इष्टज्यार्धाहतां इष्टभुजज्यया गुणितां कृत्वा लम्बज्यया विभजेत्तदा लब्धा पूर्वापरे क्षितिजे अग्रा भवति ।

त्रिज्या, परमापक्रमज्या परमाल्पद्युज्येत्येकं क्षेत्रं, इष्टभुजज्या क्रान्तिज्या व्यस्तोदयलवज्येति द्वितीयं क्षेत्रं क्षेत्रद्वयं सजातीयं तेनानुपातः

$$\frac{\text{ज्यापरक्रा} \times \text{ज्या इभुजा}}{\text{त्रि}} = \text{ज्याक्रा}$$

ततः क्रान्तिज्या, कुज्या, अग्रा इत्येकमक्षक्षेत्रं तथा अक्षज्या, लंबज्या, त्रिज्येति द्वितीयं क्षेत्रद्वयमक्षक्षेत्रम् ।

$$\text{अतः अग्रा} = \frac{\text{त्रि} \times \text{ज्या क्रा}}{\text{ज्यालं}} = \frac{\text{त्रिज्या परक्रा} \times \text{ज्याइभु}}{\text{ज्यालं} \times \text{त्रि}}$$

$$= \frac{\text{ज्यापरमक्रान्ति} \times \text{ज्याइष्टभुजा}}{\text{ज्यालं}}$$

इत्युपपन्नम् ।

भा०

परमक्रान्तिज्या को इष्टभुजज्या से गुण दें एवं लम्बज्या से भाग दें तो पूर्व पश्चिम क्षितिज में अग्रा हो जाती है । अहोरात्रवृत्त क्षितिजवृत्त के संपात से लेकर पूर्वस्वस्तिक पश्चिम स्वस्तिक तक क्षितिजवृत्तीय चापखण्ड को जीवा अग्रा कहलाती है ।

सा विषुवज्योना चेद्विषुवदुदग्लम्बकेन संगुणिता ।
विषुवज्ज्यया विभक्ता लब्धः पूर्वापरे शंकुः ॥ ३१ ॥

विषुवदुदग् अर्थादुत्तरगोले सा अग्रा विषुवज्योना विषुवत्या रहिता सिद्धा चेत् । छायाकर्णगोले शङ्कुतलं विषुवतीतुल्यं भवति तेन विषुवत्या रहिता अग्रा सिद्धा चेत् सा लम्बकेन संगुणिता विषुवज्ज्यया विभक्ता तदा पूर्वापरे वृत्ते स्थिते सूर्ये शङ्कुः स्यात् ।

त्रिज्या, लम्बज्या, अक्षज्येति पलक्षेत्रम् । एवं हृतिः कर्णः अग्राभुजः समशंकुः कोटिः इदमप्यक्षक्षेत्रम् ।

$$\text{अतः समशं} = \frac{\text{ज्यालम्ब} \times \text{अग्रा}}{\text{ज्याअक्ष}} = \frac{१० \times \text{अग्रा}}{\text{वि}}$$

इत्युपपन्नम् ।

भा०

विषुवदुदग् अर्थात् विषुवद्वृत्त से उत्तर, उत्तर गोल में वह अग्रा यदि विषुवती घटाकर सिद्ध हुई हो । उत्तरगोल में पूर्वापरवृत्त से उत्तर ग्रह के रहने पर शंकुतल और भुज के योग से अग्रा होती है । छायाकर्णगोल में एक तो शंकुतल विषुवती के तुल्य होता है दूसरा उस गोल में दिशा बदल जाती है । इसीलिये जहाँ अग्रा शंकुतल भुज के योग से सिद्ध होती है वहाँ विषुवती से ऊन भुज अग्रा होगी इसलिये यदि विषुवती से ऊन होकर अग्रा सिद्ध हुई तो उसको शंकु द्वादश से गुण दें विषुवती से भाग दें अथवा लम्बज्या से गुण दें अक्षज्या से भाग दें तो लब्धि पूर्वापरवृत्त में सूर्य के रहने पर शंकु होगा ।

क्षितिजादुन्नतभागानां या ज्या सा परो भवेच्छङ्कुः ।
मध्यान्नतभागज्या छाया शङ्कोस्तु तस्यैव ॥३२॥

क्षितिजात् समस्थानात् उन्नतभागानां उन्नतांशानां या ज्या स परः परमः शङ्कुः अर्थान्मध्याह्न शंकुर्भवति । मध्यात् खस्वस्तिकात् नतभागस्य ज्या तस्यैव शङ्कोः छाया अर्थात् दृग्ज्या भवति ।

भा०
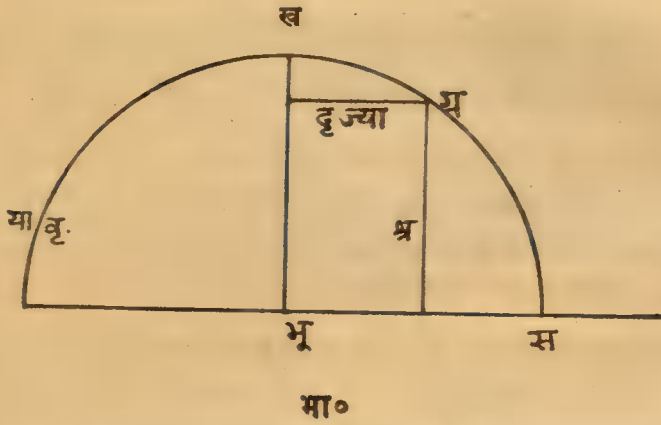
क्षितिज से यहाँ समस्थान से उन्नतांशों की ज्या परमशंकु मध्याह्नशंकु होती है और खस्वस्तिक से नतांशों की जीवा उसी शंकु की छाया अर्थात् दृग्ज्या होती है। जैसा उपर के क्षेत्र में स्पष्ट है।

मध्यज्योदयजीवासंवर्गे व्यासदलहृते यत् स्यात्।
तन्मध्यज्याकृत्योर्विशेषमूलं स्वदृक्क्षेपः॥ ३३॥

मध्यज्या दशमलग्ननतांशज्या उदयजीवा लग्नाग्रा अनयोः संवर्गे गुणने व्यासदलहृते त्रिज्याभक्ते यत् फलं तन्मध्यज्याकृत्योः विशेषमूलं अन्तरस्य मूलं स्वदृक्क्षेपः स्थूलः। वस्तुतः फलकोटिज्याखार्धे इदं वस्तु भवति। तदेवात्र स्वल्पान्तरेण स्वदृक्क्षेपः अर्थात् वित्रिभलग्ननतांशज्या कथ्यते।
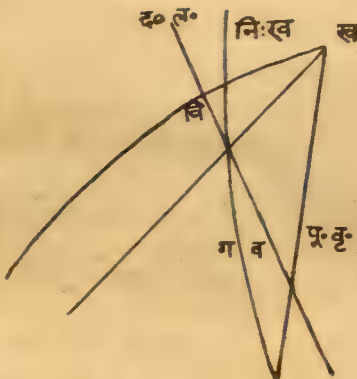
खद = दशमलग्ननतांशाः

विख = वित्रिभनतांशाः

. द्विख = समकोणः

तथा ∠ विखद् = लग्नाग्राप्रमितः

इत्यस्मिन् द्विख त्रिभुजे कोणानुपातः

$$\frac{\text{ज्या दशमलग्न नतां} \times \text{लग्नाग्रा}}{\text{त्रि}} = \text{ज्यविद्}$$

ततः $\sqrt{\text{ज्या}^2 \text{ दशमलन} - \text{विद}^2}$ अत्र फलं

विद् कोटि ज्यासार्धे भवति तदेवात्र स्वल्यान्तरेण = दृक्षेपः
= वित्रिभलग्ननतांशज्या ।

भा०

मध्यज्या, दशमलग्ननतांशज्या, उदयजीवा लग्नाग्रा के गुणन में व्यासदल त्रिज्या से भाग देने पर जो फल मिले उसके वर्ग को दशमलग्ननतांशवर्ग में घटाकर मूल लेने से दृक्षेप होता है। यह आनयन स्थूल है।

दृग्दृक्षेपकृतिविशेषितस्य मूलं स्वदृग्गतिः कुवशात् ।
क्षितिजे स्वादृक्छाया भूव्यासार्धं नभोमध्यात् ॥३४॥

दृग्दृक्षेप अर्थात् दृग्वृत्तीय दृक्षेपकृतिविशेषितस्य व्यासार्धवर्गस्येतिशेषः मूलं स्वदृग्गतिः स्वदृग्वृत्तीयदृग्गतिः अर्थात् वित्रिभ शंकुः। कुवशात् गर्भक्षितिजादेव भवति। नभोमध्यात् खस्वस्तिवतः क्षितिजे स्वदृक् छाया स्वदृष्टेरवरोधिका भूव्यासार्धं भूव्यासार्धतुल्यं भवति। अर्थाद्गर्भक्षितिज पृष्ठक्षितिजयोरन्तरं भूव्यासार्धतुल्यं भवति

भा०

दृगमडलीय दृक्षेप अर्थात् वित्रिभनतां-शज्या वर्ग को त्रिज्यावर्ग में घटाकर मूल लेने से दृग्गति अर्थात् वित्रिभशंकु होता है। यह गर्भक्षितिज से वित्रिभउन्नतांश की जीवा होती है। नभोमध्य खस्वस्तिक से क्षितिज में दृष्टि को अवरोध करने वाली छाया भूव्यासार्धतुल्य होती है। अर्थात् गर्भक्षितिज पृष्ठक्षितिज के मध्य में भूव्यासार्ध ही है।

विक्षेपगुणाक्षज्या लम्बकभक्ता भवेदृगायुदक्स्थे ।
उदये धनमस्तमये दक्षिणभागे धनमृणं चन्द्रे ॥ ३५ ॥

अक्षज्या विक्षेपगुणा शरगुणा लम्बकभक्ता लम्बज्यया भक्ता तत् आक्षदृक्कर्मभवति । उदक्स्थे चन्द्रे उदये ऋणं अस्तमये धनं संस्कार्यं । दक्षिणभागे स्थिते चन्द्रे उदये धनं अस्ते ऋणं कार्यंतदाऽक्षदृक्कर्मसंस्कृतश्चन्द्रो भवति ।

अत्रोपपत्तिः ।
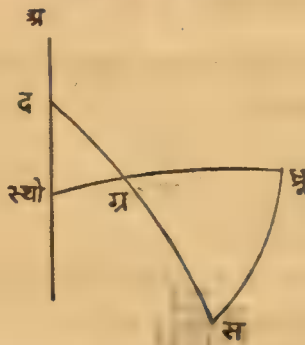
अदृस्थां = क्रान्तिवृत्तम्

ध्र₂ग्रस्थां = ग्रहविम्बोपरि ध्र₂वप्रोतवृत्तम्

ग्रस्थां = ग्रहस्य ध्र₂वप्रोतीयः शरः

स्थां = आयनदृक्कर्म संस्कृत ग्रहस्थानम्

सग्रदृ = ग्रहोपरि समप्रोतवृत्तम्

स्थांदृ = आक्षजं दृक्कर्म

स्थांग्रदृ = ग्रहस्याक्षजं वलनम्

स्थांग्र = ग्रह = ग्रहइत्य कदम्बप्रोतीयः शरः स्वल्पान्तरात्

एवं ग्रध्र₂ = लम्बांशाः परिकल्प्यानुपातः

$$\text{स्थाद} = \frac{\text{ध्र}_2\text{स} \times \text{स्थाग्र}}{\text{ग्रध्र}_2} = \frac{\text{ज्या अक्षांश} \times \text{श}}{\text{ज्या लं}}$$

आक्षदृक्कर्म स्वल्पान्तरात् इत्युपपन्नम् ।

भा०

अक्षज्या को चन्द्रमा के शर से गुण देने तथा लम्बज्या से भाग देने पर आक्षदृक्कर्म होता है । चन्द्रमा उत्तर में हो तो उदय में ऋण तथा अस्त में धन करने पर एवं

दक्षिण में हो तो उदय में धन तथा अस्त में ऋण करने पर आक्षदृक्कर्मसंस्कृत चन्द्रमा हो जाते हैं।

आयनदृक्कर्मानयनम्

विक्षेपापक्रमगुणमुत्क्रमणं विस्तरार्धकृतिभक्तम्।
उदगृणधनमुदगयने दक्षिणधनमृणं याम्ये॥ ३६॥

उत्क्रमणं ग्रहस्योत्क्रमज्यां विक्षेपेण शरेण अपक्रमेण परमापक्रमेण च गुणं विस्तरार्धकृतिभक्तं त्रिज्यावर्गेण भक्तं तदाऽयनदृक्कर्म भवति। तत् उदगयने उदक्शरे ऋणधनं दक्षिणभागे दक्षिनेऽयने याम्ये शरे धनं ऋणं च कार्यम्।

अत्रोपपत्तिः।

अत्र आ स्था = आयवदृक्कर्म

ग्रस्था = कदम्बप्रोतीयशरः

∠ आग्रस्था = अयनवलनांशाः

स्थाआग्र त्रिभुजे कोणानुपातेना-यदृक्कर्मज्या =

$$\frac{\text{ज्याआग्र} \times \text{ज्या}\angle\text{आ ग्र स्था}}{\text{ज्या}\angle\text{ग्र स्था आ}}$$

$$= \frac{\text{ज्या आग्र}}{\text{त्रि}} \times \frac{\text{को ज्या ग्र.ज्यापक्रा}}{\text{द्यु}}$$

अत्र ज्या आग्र स्थाने शरं

कोज्याग्र = उज्याग्र

द्यु = त्रि

स्वल्पान्तरात् प्रकल्प्य

$$\text{आयनदृक्कर्म} = \frac{\text{श. परमक्रा. उज्याग्र}}{\text{त्रि}^2}$$ इत्युपपन्नम्

भा०

ग्रह की उत्क्रमज्या को शर तथा परमक्रान्ति से गुण दें तथा त्रिज्या वर्ग से भाग दें तो आयनदृक्कर्म होता है। उत्तर शर में ऋणधन और दक्षिण शर में धनऋण करने से आयनदृक्कर्म संस्कृत ग्रह होता है।
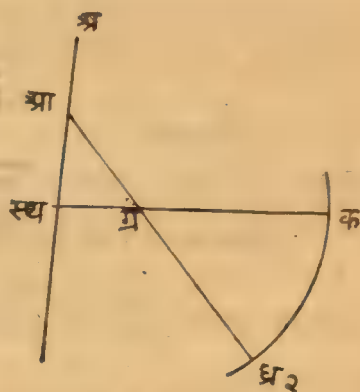
चन्द्रो जलमर्कोऽग्निर्मृद् भूश्छायापि या तमस्तद्धि ।
छादयति शशी सूर्यं शशिनं महती च भूच्छाया ॥ ३७ ॥

चन्द्रः जलं जलमयः अर्कः अग्निः तेजोमयः भूः पृथिवी मृत् मृत्तिका अस्याः पृथिव्याः या छायापि तद्धि तमः अन्धकारमयं । शशी चन्द्रः सूर्यं छादयति तथा महती भूच्छाया च शशिनं छादयति ।

भूच्छाया महती चन्द्रकक्षादधिकेत्येतत्प्रदर्शनार्थं क्षेत्रम् ।

अत्रोपपत्तिः

भूरेखा स्पर्शरेखायाः समान्तरा तदा सूभूर, भूशीस्प क्षेत्रयोः साजात्यात्

अनुपातेन $\text{भूशी} = \dfrac{\text{रक} \times \text{भू ज्या १}}{\text{सू ज्या १} - \text{भू ज्या १}}$ भूशीमानं चन्द्रकक्षादधिकं भवतीत्युपपन्नम् ।

भा०

अमान्त में चन्द्रसूर्य का राश्यादि तुल्य होने के कारण एक दूसरे के सामने रहते हैं। इसलिए जिस अमान्त में दोनों बिम्ब मान के ऐक्य के आधे से अल्प शर रहने पर ग्रहण की संभावना होती है। इसी प्रकार पूर्णिमान्त में सूर्य से छः राशि पर चन्द्रमा तथा छः राशि पर भूभा भी रहती है। इसलिये भूभा और चन्द्रमा का मान तुल्य होता है। अतएव मानैक्यार्ध से अल्पशर होने पर चन्द्रग्रहण की सम्भावना होती है। चन्द्रमा जलमय है सूर्य अग्नि, उष्ण और तेजमय है, भू पृथिवी मृत्तिका है। उस पृथिवीकी छाया भी अन्धकारमय है। चन्द्रमा सूर्य को (अमान्त में) ढक लेते हैं और पृथिवी की महती छाया (पूर्णान्त में) चन्द्रमा को ढक लेती है।

स्फुटशशिमासान्तेऽर्कं पातासन्नो यदा प्रविशतीन्दुः।
भूच्छायां पक्षान्ते तदाधिकोनं ग्रहणमध्यम् ॥३८॥

यदा इन्दुः चन्द्रः पातासन्नः तदा स्फुटशशिमासान्ते स्पष्टचान्द्रमासान्ते अमान्ते अर्कं सूर्यं प्रविशति ग्रसति। एवं पक्षान्ते पूर्णिमान्ते पातासन्नः इन्दुः भूच्छायां प्रविशति तदाधिकोनं ग्रहणमध्यं भवति।

अर्थात्ग्रहणमध्यमधिककालावच्छिन्नं कदाचिल्पकालावच्छिन्नं भवति।

अत्रोपपत्तिः।

ग्रहणं हि मानैक्यार्धादल्पे शरे भवति। चन्द्रग्रहे हि मध्यमं मानैक्यार्धं षट्पञ्चाशत् कलाः सूर्यग्रहे द्वात्रिंशत्। षट्पञ्चाशत् कलाः शरो द्वादशभिर्भुज-भागैर्भवति। द्वात्रिंशन्मिताः सप्तभिर्भुजभागैर्भवति। स तु विक्षेपः सपातेन्दोः संसाध्यः। एवं मध्यमः सूर्यः सपात आगच्छति। तेन स्फुटेन भवितव्यम्। स्फुटमध्ययोरन्तरं स्थूलं किल भागद्वयं। अतः सपातसूर्यभुजांशका यदा मनूनका-स्तदा चन्द्रग्रहणस्य संभवः। सूर्यग्रहणे शरः नत्या संस्कार्यः तादृशः शरो यैर्भुज-भागैरुत्पद्यते ते भुजांशा यदा नगोनास्तदा सूर्यग्रहणस्य संभवः।

भा०

चन्द्रमा जब पात के समीप में रहते हैं तब स्पष्टअमान्त में सूर्य को ग्रसित करते हैं। इसी प्रकार पूर्णिमान्त में पातासन्न चन्द्रमा भूच्छाया में प्रविष्ट होता है तब ग्रहणमध्य कभी अल्पकाल का या कभी अधिक काल का होता है ग्रास के अनुसार।

भूरविविवरं विभजेद् भूगुणितं तु रविभूविशेषेण।
भूच्छायादीर्घत्वं लब्धं भूगोलविष्कम्भात् ॥३९॥

भूरविविवरं रविकर्णं भूगुणितं भूव्यासार्धेन गुणितं रविभूविशेषेण सूर्य भूव्यासार्धान्तरेण विभजेद् तदा भूगोलविष्कंभात् भूकेन्द्रात भूच्छायादीर्घत्वं लब्धं भवति।

भूट = रविकर्णः
भूल = चन्द्रकर्णः
भूछ = भूछायादीर्घत्वं
भूस = भूव्या $\frac{1}{2}$
ट न = सूर्विव्या $\frac{1}{2}$
टप = सूव्या $\frac{1}{2}$ − भूव्या $\frac{1}{2}$

इदानीं भूतप, भूछस त्रिभुजयोः साजात्यात्

$$भूछ = \frac{भूट \times भूस}{टप} = \frac{रक \times भूव्या\frac{1}{2}}{रव्या\frac{1}{2} - भूव्या\frac{1}{2}}$$

इत्युपपन्नम् ।

ल बिन्दोः न छ स्पर्शरेखोपरिलम्बः = लघ = भूभाः भू छ − भूल = छादै − चंक = ल छ
तदा भू स छ, ल घ छ क्षेत्रयोः साजात्यात्

$$ल घ = भूभा = \frac{भूस \times ल छ}{भूछ}$$

$$= \frac{भूव्या\frac{1}{2} (छा दै − चंक)}{छायादैर्घ्य}$$

इत्युपपन्नमग्रिमश्लोके भूभाव्यासार्धानयनम् इदं द्विगुणं तदा भूभाव्यासः ।

भा०

रविकर्ण को पृथिवी व्यासार्ध से गुण दें तथा पृथ्वी सूर्य के व्यासार्धान्तर से भाग दें तो पृथिवी छाया की लम्बाई भूकेन्द्र से होती है ।

छायाग्रचन्द्रविवरं भूविष्कम्भेण तत् समभ्यस्तम् ।
भूच्छायया विभक्तं विद्यात्तमसः स्वविष्कम्भम् ॥४०॥

छायाग्रचन्द्रविवरं अर्थात् छायाग्रचन्द्रकर्णान्तरं तत् भूविष्कंभेण भूव्यासेन समभ्यस्तं भूच्छायया भूच्छायादैर्घ्येण विभक्तं चन्द्रकक्षास्थभूमायाः तमसः स्वविष्कंभं व्यासो भवति ।

अत्रोपपत्तिः पूर्वश्लोके लिखिता ।

भा०
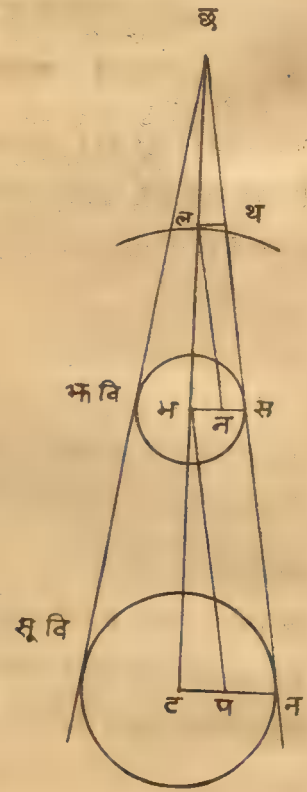
छायादैर्ध्य चन्द्रकर्णान्तर को भूविम्बव्यास से गुण दें तथा भूच्छायादैर्ध्य से भाग दें भूभाव्यास प्राप्त होता है। इसकी उपपत्ति पूर्व श्लोक की उपपत्ति में की गई है जिससे दूसरा क्षेत्र न बनाना पड़े।

सम्पर्कार्धस्य कृतेश्शशिविक्षेपस्य वर्गितं शोध्यम्।
स्थित्यर्धमस्य मूलं ज्ञेयं चन्द्रार्कदिनभोगात् ॥४१॥

संपर्कार्धस्य ग्राह्यग्राहकविम्बैक्यार्धस्य कृतेः वर्गात् शशिविक्षेपस्य चन्द्रशरस्य वर्गितं वर्गं शोध्यं अस्यान्तरस्य मूलं स्थित्यर्धं स्थितिकालस्य अर्धं भवति तच्च चन्द्रार्कदिनभोगात् चन्द्रसूर्ययोर्गतियोगेन ज्ञेयम्।

अत्रोपपत्तिः।
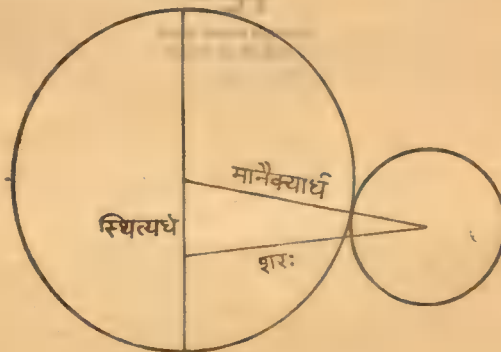
स्पर्शकाले तु विम्बगर्भयोरन्तरं मानैक्यार्धम्। तच्च कर्णरूपं भवति। तत्र यः शरः सा कोटिः। कर्णकोट्योर्वर्गान्तरपदं भुजः। तच्च ग्राहकमार्गखण्डम्। तत्क्रमणकालज्ञानायानुपातः। तच्चन्द्रार्कयोः प्राग्गमनात् गत्यन्तरेणक्रियते। यदि भुक्त्यन्तर कलाभिः षष्टिघटीर केन्दू क्रामतस्तदा लब्धाभिर्भुजकलाभिः कियत्य इति फलं स्थित्यर्धघटिकाः। स्पर्शकालिक शराज्ञानान्मध्यग्रहणशरेणैतत् क्रियते तेन स्थूलं स्थित्यर्धं भवति।

भा०

ग्राह्य ग्राहक मानैक्यार्ध के वर्ग में चन्द्रशर वर्ग घटा दें तो मूल लेने से स्थित्यर्ध आ जाता है। तब अनुपात करें कि चन्द्रार्कगत्यन्तर में एक दिन तो स्थित्यर्ध में क्या तो स्थितिकाल आ जायगा।

चन्द्रव्यासार्धोनस्य वर्गितं यत्तमोमयार्धस्य।
विक्षेपकृतिविहीनं तस्मान्मूलं विमर्दार्धम् ॥४२॥

चन्द्रव्यासार्धोनस्य तमोमयार्धस्य भूभाविम्बार्धस्य यत् वर्गितं वर्गः तत् विक्षेपकृतिविहीनं शर वर्गेण हीनं तस्मान्मूलं विमार्दार्धम् भवति।

अथ विमर्दार्धमुच्यते। यदा छादकेन छाद्ये समग्रे छन्ने संमीलनमानं तदा विम्वगर्भयोरन्तरे विम्बार्धार्धन्तरतुल्याः कलाः भवन्ति। ताश्च कर्णरूपाः। तस्मिन् काले यावान् विक्षेपस्तावती कोटिस्तयोर्वर्गान्तरपदं ग्राहकवर्त्मखण्डं भवति। तत्रापिपूर्ववदनुपातेन घटिकात्मकः कालो मर्दखण्डं भवति। सोऽपि स्थूलः।

क्षेत्रदर्शनम्

भा०
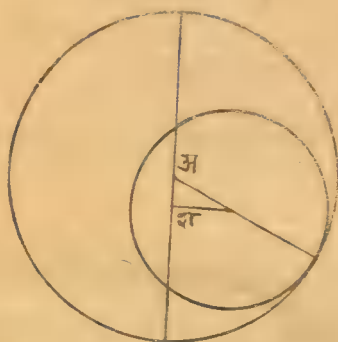
चन्द्रव्यासार्धोन भूभाव्यासार्ध वर्ग में शरवर्ग घटा दें तो उसका मूल विमर्दार्ध होता है।

तमसो विष्कम्भार्धं शशिविष्कम्भार्धवर्जितमपोह्य ।
विक्षेपाद्यच्छेषं न गृह्यते तच्छशाङ्कस्य ॥४३॥

तमसः भूभायाः विष्कम्भार्धं व्यासार्धं शशिविष्कम्भार्धवर्जितं चन्द्रविम्ब व्यासार्धेन हीनं यदवशिष्टं तद्वि क्षेपात् शरमानात् अपोह्य त्यक्त्वा यच्छेषं तच्छशाङ्कस्य न गृह्यते तत्र म्लानता न भवति ।

भा०

भूभाविम्बार्ध में चन्द्रविम्बार्ध घटाकर जो शेष हो उसको शर में घटाने से जो शेष बचे उसका ग्रहण नहीं होता। अर्थात् उसमें म्लानता नहीं आती।

विक्षेपवर्गसहितात् स्थित्यर्धादिष्टवर्जितान्मूलम् ।
सम्पर्कार्धाच्छोध्यं शेषस्तात्कालिको ग्रासः ॥४४॥

विक्षेपवर्गसहितात् शरवर्गयुक्तात् इष्टवर्जितात् स्थित्यर्धात् अर्थादिष्टोन स्थितिवर्गात् मूलं ग्राह्यग्राहक केन्द्रान्तरं तत् सम्पर्कार्धात् मानैक्यार्धात् शोध्यं शेषः तात्कालिको ग्रासः स्यात् ।

क्षेत्रदर्शनम्
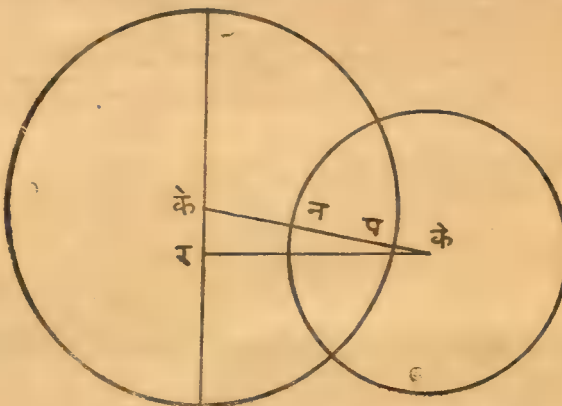
केर = स्थित्यर्ध − इ

के' र = तात्कालिकः शरः

के के' = केन्द्रान्तरम्

मानैक्यार्ध − के के' = पन = ग्रासप्रमाणम् ।

भा०

इष्टोन स्थितिवर्ग में शरवर्ग जोड़ देने तथा उसके मूलको मानैक्यार्ध में घटा देने से शेष तात्कालिक ग्रास होता है।

मध्याह्नात् क्रमगुणितोऽक्षो दक्षिणतोऽर्धविस्तरहृतो दिक्।
स्थित्यर्धाच्चार्केन्द्वोस्त्रिराशिसहितायनात् स्पर्शे ॥४५॥

मध्याह्नात् क्रमगुणितोऽक्षः अर्थान्नतज्यया गुणिताक्षज्या अर्धविस्तरहृतः द्युज्यया भक्तस्तदा दक्षिणतो दिक् भवति। अर्थादाक्षवलनं भवति। एवं प्राक्कपाले दक्षिणादिक् परकपाले उत्तरा। एवं स्थित्यर्धाच्च दिग्भवति। स्थित्यर्धे शरस्य मुख्यता तेन शरतोपि दिग्ज्ञेया "शरा यथाशा ग्रहणे खरांशोश्चन्द्रग्रहे व्यस्तदिशस्तु वेद्याः"।

अर्केन्द्वोः त्रिराशिसहितायनात् अर्थात् सत्रिभग्रहापमतः स्पर्शे-वलनं आयनं वलनं भवति।

गो = गोलसन्धिः

गोग्रअ = क्रान्तिवृत्तम्

गोम = नाडीवृत्तम्

म अ $ध्र_2$ = अयनप्रोतवृत्तम्

स $ध्र_2$ = याम्योत्तरवृत्तम्

ग्र $ध्र_2$ = $ध्र_2$वप्रोतवृत्तम्

ग्र क = कदम्बप्रोत वृत्तम्

स ध्र$_2$ = अक्षांशाः

ध्र$_2$ क = परम क्रान्त्यंशाः

∠स ग्र ध्र$_2$ = आक्षवलन

∠ध्र$_2$ ग्र क = आयनवलन

ग्र स ध्र$_2$ त्रिभुजे कोणानुपातेनः ज्या आक्षव = ज्या∠स ग्र ध्र$_2$

$$= \frac{\text{ज्या} \angle \text{ग्र स ध्र}_2 \times \text{ज्या ध्र}_2 \text{ स}}{\text{ध्र}_2 \text{ ग्र}} = \frac{\text{ज्या नतांश} \times \text{ज्या अ}}{\text{द्यु}}$$

इत्युपपन्नम् ।

ग्र क ध्र$_2$ त्रिभुजे कोणानुपाततोऽयनवलनज्या $= \frac{\text{ज्या} \angle \text{ध्र}_2 \text{ क ग्र} \times \text{ज्या ध्र}_2\text{क}}{\text{ग्र ध्र}_2}$

$$= \frac{\text{कोज्या ग्र} \times \text{ज्या पक्रा}}{\text{ग्र ध्र}_2}$$ = ज्या सत्रिभग्रहक्रान्ति यथा क्षेत्रम्

कस = ग्रहोत्पन्न नवत्यशव्यासार्धवृत्तम्

स = सत्रिभ ग्रहः, ध्र$_2$ स ट = सत्रिभ ग्रहोपरि ध्र$_2$वप्रोतवृत्तम्

सट = सत्रिभग्रहक्रान्ति, ट विन्दुः = ग्र ध्र$_2$ वृत्तस्य तृतीयकेन्द्रम्

तेन ∠ट ग्र ध्र$_2$ = ९०° एवं ∠स ग्र क = ९०°

स ग्र ध्र$_2$ कोणापनयनेन

ध्र$_2$ ग्र क = आयनवलन = ∠ट ग्र स = सत्रिभग्रहक्रान्तिः

इत्युपपन्नं आयनवलनानयनम् ।

भा०

नतज्या से अक्षज्या को गुण देने तथा द्युज्या से भाग देने पर आक्षवलनज्या होती है। सूर्य चन्द्र के पूरब कपल में होने से उत्तरादिक् होती है। इसी प्रकार स्थित्यर्ध में शर दिशा की मुख्यता है। सत्रिभग्रह क्रान्तिज्या आयनवलनज्या होती है।

प्रग्रहणान्ते धूम्रः खण्डग्रहणे शशी भवति कृष्णः।
सर्वग्रासे कपिलस्स कृष्णताम्रस्तमोमध्ये ॥४६॥

प्रग्रहणे स्पर्शे अन्ते मोक्षे च शशी चन्द्रः धूम्रः धूम्रवर्णो भवति। खण्ड ग्रहणे कृष्णो भवति। सर्वग्रासे कपिलः कपिलवर्णो भवति। सर्वग्रासेऽपि तमोमध्ये प्रविशति सः कृष्णताम्रः कृष्ण वर्णयुक्तताम्रवर्णः।

भा०

चन्द्र ग्रहण में स्पर्श और मोक्षकाल में चन्द्रमा धूम्र (धूआँ) वर्ण के मालूम पड़ते हैं क्योंकि दोनों काल में स्वच्छ और काले का योग होता है। खण्डग्रहण में चन्द्रमा काले होते हैं। सर्वग्रास में कपिलवर्ण के होते हैं। सर्वग्रास में चन्द्रमा जब अन्धकार में प्रविष्ट होते तो जबतक भूभा में रहते हैं तो कृष्ण ताम्र मालूम पड़ते हैं।

सूर्येन्दुपरिधियोगेऽर्काष्टमभागो भवत्यनादेश्यः।
भानोर्भासुरभावात् स्वच्छतनुत्वाच्च शशिपरिधेः ४७।

सूर्येन्दुपरिधियोगे स्पर्शादौ भानोः सूर्यस्य भासुरभावात् तेजोदीप्त्या शशि परिधेः चन्द्र गोलस्य स्वच्छतनुत्वाच्च स्वच्छत्वात् अष्टमभागोऽपि ग्रस्तश्चेत्तत् अनादेश्यः ग्रहण भविष्यकथनं न युक्तम् यतस्तत् दृश्यं न भवति।

भा०

सूर्य ग्रहण में स्पर्शादि में यदि सूर्य विम्व का अष्टम भाग भी ग्रस्त रहे तथापि सूर्य के तेज तथा चन्द्रविम्ब के स्वच्छ शरीर होने के कारण ग्रहण नहीं कहें क्योंकि सूर्य के अधिक तेज के कारण वह मालूम नहीं पड़ता है।

क्षितिरवियोगादिनकृद्रवीन्दुयोगात् प्रसाधितश्चेन्दुः।
शशिताराग्रहयोगात्तथैव ताराग्रहास्सर्वे ॥४८॥

क्षितौ यदा रवियोगः अर्थात् सूर्योदयकाले स्फुटो रविर्ज्ञातो भवति गणितेन प्रत्यक्षेण च। एवं रवीन्दुयोगात् अमान्तकाले सूर्यग्रहणकाले वा

प्रसाधितश्चेन्दुः स्पष्टो भवति। अमान्तकालिकश्चन्द्रो यदि द्रष्टुं नायाति तदासौ स्फुटो ज्ञेयः। एवं सर्वे ताराग्रहाः भौमादिपञ्चग्रहाः शशितारा-ग्रहयोगत् शशिनायोगन् तथा प्रकाशवत्यास्ताराश्चाः योगात् स्फुटा भवन्ति। अर्थाद्गणितागता भौमादयोग्रहा यदि चन्द्रमसा वा तारकादिभिः समत्वं रात्रौ द्रष्टुमुपयाति तदा ते स्फुटा ज्ञेयाः। इयं दृक् प्रतीतिः। एवंरीत्या दृग्गणितैक्यं भवतीति।

भा०

पृथिवी में जब रवि का योग होता है अर्थात् सूर्योदय काल में स्पष्ट रवि का ज्ञान करना चाहिये अर्थात् गणित से लाये हुए सूर्य ठीक सूर्दोदय काल में देखने में आवे तो वह सूर्य स्पष्ट है। इसी प्रकार रविचन्द्र के योग से चन्द्रमा का साधन करना चाहिये। अर्थात् रविचन्द्र की तुल्यता अमान्त है। उस रात में सारी रात अन्धकार रहे तो चन्द्रमा की स्पष्टता स्पष्ट है। इसी प्रकार अन्य भौमादि पञ्चग्रह की स्पष्टता चन्द्रमा तथा अन्य तारा के योग से करनी चाहिये। अर्थात् रात में चन्द्रमा और दूसरा ग्रह एक साथ देखने में आवे तो उसकी स्पष्टता होती है

सदसज्ज्ञानसमुद्रात् समुद्धृतं देवताप्रसादेन।
सज्ज्ञानोत्तमरत्नं मया निमग्नं स्वमतिनावा ॥४६॥

सदसद्ज्ञानसमुद्रात् ज्ञानसमुद्रः सदसत्ज्ञानेन मिश्रितोऽभवत् तत्र निमग्नं सत्ज्ञानोत्तमरत्नं केवलं देवताप्रसादेन स्वेष्ट देवोब्रह्मा तस्य प्रसादेन स्वमतिनावा समुद्धृतं समुद्रबाह्यं कृतम्। यथा वैज्ञानिकः नावा समुद्रात् रत्नमुद्धरति तथा मयापि स्वमतिनावा देवता प्रसादेन च सत्ज्ञानोत्तमरत्नं समुद्धृतम् ज्ञातम्।

भा०

सत् असत् ज्ञान समुद्र से देवता की कृपा से अपनी बुद्धिरूप नौका के द्वारा सत्ज्ञानरूप उत्तमरत्न को मैंने निकाला। जिस प्रकार समुद्र में रत्न भी गुहाओं में छिपे रहते हैं तथा प्राणिपीड़ाकर जलजन्तु ग्राहादि भी रहते हैं वहां बुद्धिमान लोगों के आदेश से (उनके वताये हुए उपायों से) नौका के द्वारा सद्रत्न निकाले जाते हैं इसी प्रकार विद्यासमुद्र में भी ज्ञान अज्ञान दोनों मिश्रित हैं वहाँ उस देव की कृपा से तथा अपनी बुद्धि से आर्यभट ने सत्ज्ञान रूप उत्तम रत्नों को निकाले।

आर्यभटीयं नाम्ना पूर्वं स्वायम्भुवं सदा सद्यत्।
सुकृतायुषोः प्रणशं कुरुते प्रतिकञ्चुकं योऽस्य ॥५०॥

पूर्वं स्वायम्भुवं स्वयंभुवो ब्रह्मणः शकासादागतं ज्ञानं यत् सदा सर्वं कालिकं सत् तदेव नाम्ना आर्यभटीयं आर्यभट प्रतिपादितं ज्ञानं। अर्थात् पूर्वं ब्रह्मणः प्रोक्ते ज्ञाने असदपि मिश्रितं जातं तद्विशोध्येदानीं सदेव ज्ञानमवशिष्टं। अतोऽस्य यः कश्चित् प्रतिकंचुकं दोषोत्पादनेन तिरस्करणं करोतिसः पुण्यस्य आयुषश्च प्रणाशं कुरुते। अतः सर्वमान्य मिदं सच्छासनमित्यर्थः। इति गोलपादः समासः।

भा०

पहले स्वयंभू ब्रह्मा के द्वारा कहा गया जो सत् ज्ञान था उसीको आर्यभटीय नामक ग्रन्थ में कहा गया है। यह यथार्थ में सत्ब्रह्म-सिद्धान्त ही है। इसीलिये इसमें दोष दिखाकर इसका तिरस्कार जो करते हैं वे अपने पुण्य तथा अपनी आयु को क्षीण करते हैं। वास्तव में आदरणीय संमाननीय वस्तु में कोई तुच्छ दृष्टि रखे तो उसका पुण्य क्षय तथा आयुक्षय अवश्य होता है। इति गोलपाद पूर्ण हो गया।

सोहोनी बुधवर्याणामाज्ञामाधाय चेतसि।
पुष्पपुर्यामियं व्याख्या बलदेवेन निर्मिता॥
त्रयोविंशाधिके युग्मसहस्त्रे वैक्रमे शुभे।
माधवे पूर्णतामासा विश्वनाथप्रसादतः॥

अनुक्रमणिका

IGNCA RAR
ACC. No.

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	११	एकोनषाष्टि:	एकोनषष्टि:
१४	८	व^{२}+२=कबब ^{२}	व^{२}+२कब+क^{२}
१४	२१	समत्तिघातश्च	समत्रिघातश्च
२४	१९	विषमचपुर्भुजे	विषमचतुर्भुजे
२६	७	यष्ठांश	षष्ठांश
२७	२४	चापस्पधि	चापस्पर्धि
२८	७	चापस्पधिगुण	चापस्पर्धिगुण
३२	१	माग	भाग
३२	७	सभभूरध	समभूरध
३७	१०	स्यात्त तयो	स्यात्तयो
५३	१६	भवति:	भवति
६१	१०	सावानाहा	सावनाहा
६३	९	मानुष्यर्षेवर्णकेन	मानुष्यवर्षेणैकेन
६३	२१	ब्रल्ला	ब्रह्मा
६४	२४	क्रमतो:-	क्रमत:-
६५	८	परश्चादवसर्पिणा	पश्चादवसर्पिणा
६५	२५	सत्यत्रेताद्वापर	सत्यत्रेता
६६	८	त्रपोदशतारिकायां	त्रयोदशतारिकायां
६६	१०	गुल	गुरू
६७	७	सूर्याद्वानां	सूर्याब्दानां
६७	१९	तावन्त्येवाकाशक।	तावन्त्येवाकाशकक्षा
६८	९	११८५८४५	११८५८।४५
७२	६	भूविन्दोरूपय	भूविन्दोरूपर्य
७२	९	प्रतिमण्डेऽप्युच्चं	प्रतिमन्डलेऽप्युच्चं
७३	१०	तिर्यग्र	तिर्यक्
७३	११	वृत्त मुच्चप्रदेशादत्रा	वृत्त मुच्चप्रदेशादत्र
७४	१	शीघ्रोध्राद्	शीघ्रोच्चाद्
७४	१६	नन्मेषादिकेन्द्रे	तन्मेषादिकेन्द्रे
७५	२	संरकार	संस्कार
७५	५	संस्कादार्यं	संस्कार्यं
७५	२१	शीघ्रोच्चादर्घोनं	शीघ्रोच्चादर्धोक्तं।
८१	१७	शमतांशोऽपि	शतांशोऽपि
८१	२३	भनावद्दत्तशत्तयैव	भगवद्दत्तशक्तौव
८२	२	तन्पतीव	तत्पततीव

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८२	२	समान्तात्	समन्तात्
८३	१२	नक्षय	नक्षत्र
८४	५	स्थर्मेरू	स्वर्मेरु
८४	१५	यवकोटयां	यवकोट्यां
८६	२	भूमिछन्नं	भूमिच्छन्नं
८८	१४	द्रष्टाययस्मिन्	द्रष्टा यस्मिन्
९०	१६	भास्कराकार्यादि	भास्कराचार्यादि
९१	१४	विषुवहृत्त	विषुवद्वृत्त
९१	१८	विषुवदुग्द	विषुवदुदग्द
९१	२३	ध्रुखप्रोत	ध्रुवप्रोत
९१	२६	केन्द्रगानकर	केन्द्र मानकर
९२	१	विषुवद्वृति	विषुवद्वृत्त
९२	७	अर्गान्नाड़ीबृत्त	अर्थान्नाड़ावृत्त
९३	१५	घहीभिः	घटीभिः
९३	१७, १८	षण्णं	षण्णां
९५	१	मिथुनासैन्तस्य	मिथुनान्तस्य
९५	२१	द्क्षिण्तः	द्क्षिणतः
९६	४	सूत्रद्विवा	सूत्राद्विवा
९६	१५	क्षेत्रद्वयमक्षक्षोत्रम्	क्षेत्रद्वयमक्षक्षेत्रम्
९७	२	विवुवज्यया	विषुवज्यया
९७	१८	हेगा	होगा
९७	२२	खष्वस्तिकात्	खस्वस्तिकात्
९९	९	नतांशवर्ग	नतांशज्यावर्ग
१००	१४	=ग्रह=ग्रहइत्य	=ग्रहस्य
१००	१४	स्वत्यान्तरात्	स्वल्पान्तरात्
१०१	१०	=आयवदृक्कर्म	आयनदृक्कर्म
११०	२१	योगा	योगाद्
१११	३	शशिनायोगन्	शशिनायोगात्
१११	५	द्रष्टुमुपयाति	द्रष्टुमुपयान्ति
१११	१९	रत्नमुद्धरति	रत्नमुद्धरति
११२	७	आयुखञ्च	आयुषः
११२	१७	पूर्णतामासा	पूर्णतामाप्ता

IGNCA RAR
ACC. No.